Chapter 2

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

: द्वितीय अध्याय :

: आलोच्य लेखक : जीवन-परिचय एवं कृतित्व :

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

: द्वितीय अध्याय :

: आलोच्य लेखक : जीवन-परिचय एवं कृतित्व :

प्रास्ताविक :

पूर्ववर्ती अध्याय में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि ~~xxxxx~~ पौराणिक उपन्यासों का सूत्रपात प्रेमचन्दोत्तर युग में हुआ है । प्रेमचन्द-युग की औपन्यासिक प्रवृत्तियों में सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास की गणना होती रही है । यद्यपि मनोवैज्ञानिक, समाजवादी तथा राजनीतिक उपन्यासों का श्रीगणेश हो चुका था । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार जैनेन्द्र तथा इलाचन्द्र जोशी के लेखन का प्रारंभ हो चुका था । समाजवादी तथा राजनीतिक उपन्यास का सूत्रपात तो स्वयं प्रेमचन्दजी ने किया है । ये दोनों प्रवृत्तियां हमें प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में उपलब्ध होती हैं । किन्तु प्रेमचन्दजी के बाद प्रेमचन्दोत्तर काल में जिन अनेकानेक औपन्यासिक प्रवृत्तियों का उद्भव और विकास

हुआ उनमें पौराणिक उपन्यास भी है । यद्यपि पौराणिक विषय-वस्तु को लेकर कुछ अन्य लेखकों ने भी कतिपय उपन्यास दिए हैं , किन्तु पौराणिक उपन्यास की दशा और दिशा निर्धारित करने वाले लेखक के रूप में सर्वश्री डा. नरेन्द्र कोहली को सदैव याद किया जायेगा । वैसे कोहलीजी ने एक व्यंग्यकार , निबन्धकार और कहानीकार के रूप में अपने साहित्यिक जीवन का प्रारंभ किया ; किन्तु बांगलादेश के बुद्धिजीवियों और कलमकारों पर पाकिस्तानी सैनिकों ने अत्याचार किए उससे उनका संवेदनशील हृदय हिल उठा और उनके मनोमस्तिष्क में राम का चरित्र उभरने लगा । इस तरह "दीक्षा" उपन्यास सामने आया । उपन्यास की सफलता से प्रेरित होकर उन्होंने रामायण पर उपन्यास-माला लिखने का निश्चय किया और इस तरह पौराणिक उपन्यासों का एक सिलसिला-सा चल पड़ा । प्रस्तुत अध्याय में हमारा उपक्रम हमारे आलोच्य लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व को रेखांकित करने का रहेगा ।

डा. नरेन्द्र कोहली : जीवन-परिचय :

कुछ विद्वानों का मानना है कि लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व को अलग-अलग रखना चाहिए और उसके कृतित्व पर विचार करते समय , केवल उसकी रचनाशीलता पर विचार करना चाहिए , उसके व्यक्तित्व पर नहीं । इस विचार के पीछे इलियट का वह मत केन्द्र में रहता है जिसमें कहा गया है -- "There is always a seperation between the man who suffers and the artist who creats and the greater the separation, greater the artist.[1] अर्थात् भोगनेवाले प्राणी और रचना करने वाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहना चाहिए , और जितना ही बड़ा यह अलगाव होगा , वह उतना ही बड़ा कलाकार होगा । टी.एस. इलियट ने यह बात कलाकार की निस्संगता के विषय में कही है । पर इसका अर्थ यह कतई नहीं कि लेखक या कवि या कलाकार

के व्यक्तित्व और उसके जीवन पर कभी विचार ही नहीं करना चाहिए । "गोविन्द मिश्र: सृजन के आयाम " नामक ग्रन्थ की भूमिका में डा. चन्द्रकान्त बांदिवड़ेकर लिखते हैं --" इस ग्रन्थ के संपादन में कोशिश यह रही है कि विभिन्न दृष्टिकोणों के समीक्षकों एवं सृजनशील लेखकों के अभिप्रायों को एक स्थान पर प्रस्तुत किया जाय ताकि गोविन्द मिश्र के समग्र कृतित्व का स्वरूप स्पष्ट हो और मूल्यांकन के आधार के लिए वस्तुनिष्ठ सामग्री का चयन हो । दूसरी कोशिश यह भी रही है कि संपादन का केन्द्र लेखकीय कृतित्व रहे , लेखक का वैयक्तिक जीवन नहीं । विश्वास है कि उसमें सफलता मिली है ।" [2] परन्तु अपने लेखन में कोई लेखक कितना वस्तुनिष्ठ रह सका है , उसका परीक्षण कैसे होगा ? यदि हम लेखक के जीवन से परिचित हैं , उसके विभिन्न जीवनानुभवों की जानकारी हमें है , तभी तो हम यह निर्णय कर पायेंगे कि अपने सृजन-कार्य में वह कितना निस्संग रह सका है । इस संदर्भ में हम शैलेश मटियानीजी के निम्नलिखित विचारों को उद्धृत करना चाहेंगे --" जो साहित्यकार यह कहे कि उसके द्वारा कहे शब्दों को उसके आचरण में न तलाशा जाये , उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसे शब्द के प्रयोग का नैतिक अधिकार नहीं है । "शब्द" सिर्फ लिपि में नहीं , अर्थ में नहीं , अपने नाद और तत्व में भी होता है और इसलिए वहीं साकार तथा सार्थक होता है , जहां उसे अपने को धारण करने वाला आचरण मिलता है , क्योंकि "सत्व" की पहली मांग "आचरण" की होती है ।" [3] प्रसिद्ध इतिहासविद और गुजरात इतिहास परिषद की भूतपूर्व अध्यक्षा डा. शिरीन एन. मेहता ने एक संगोष्ठी में कहा था --" Nobody can rise above the social milieu" [4] अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपनी सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के ऊपर नहीं जा सकता , उसका विधेयात्मक या निषेधात्मक प्रभाव उस पर पड़ता ही है । आलोचना की एक विशिष्ट सरणी को मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism)

कहते हैं , उसमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर कवि या लेखक की आंतरिक प्रेरणा के उत्स को ढूंढा जाता है । उसमें किसी कवि या लेखक को किन्हीं विशिष्ट प्रकार के प्रतीकों , बिम्बों , रंगों , प्रवृत्तियों और पात्रों से क्यों लगाव है , उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है । डा. लीना चौहाण ने अपने शोध-प्रबंध में लिखा है --" किसी भी कवि या लेखक का चेतना-पिण्ड भी अपने जीवन के यथार्थ अनुभवों से निर्मित होता है । जो लेखक या कवि जीवन में जितना ही ज्यादा गहरा उतरेगा उसे उतने ही अधिक विकट संघर्षों से गुजरना होगा । अपने समय के यथार्थ जीवनानुभवों को प्राप्त करने के लिए उसे अपने युगगत संघर्षों से दो-चार होना ही पड़ता है । जो इनसे कतराता है , वह अपने युग-सत्य को नहीं कह पाता ।"[5] निर्मल वर्मा ने अपने एक लेख में कहा था --" एक भारतीय लेखक यदि किसी अर्थ में अन्य देश के लेखकों से अलग है तो सिर्फ इसमें कि वह न अपने "सेल्फ" का प्रवक्ता है , पश्चिमी लेखकों की तरह न अपने समाज का प्रतिनिधि है । उसकी कोशिश यह है कि वह "सेल्फ" और समाज के बीच एक सेतु स्थापित कर सके -- एक कविता , एक उपन्यास , एक कलाकृति में ।"[6] कहा जाता है कि एक सर्जक को अपनी कृति में एक सर्जक (Creator) की हैसियत से रहना चाहिए। अर्थात " Present everywhere Visible Nowhere, " -- सर्वत्र विद्यमान किन्तु दृश्यमान कहीं भी नहीं । इसे ही आधुनिक शब्दावली में "निस्संगता" कहते हैं । उपर्युक्त सभी कथनों के संदर्भ में हमारा नम्र अभिमत यह है कि भले ही लेखक की कृति के मूल्यांकन में उनके जीवन को बीच में न लावें , तब भी लेखक के कृतित्व को उसकी समग्रता में समझने के लिए , उसके जीवन और व्यक्तित्व पर एक दृष्टिपात अवश्य कर लेना चाहिए । बल्कि जो विद्वान साहित्य का अनुशीलन अन्य-अन्य विद्याशाखाओं के संदर्भ में भी करना चाहते हैं , उनके लिए तो यह और भी आवश्यक हो जाता है । पश्चिम में लेखकों और कवियों के जीवन के संदर्भ में खूब लिखा गया है और लिखा जाता रहा है ।

अतः डा. नरेन्द्र कोहली के जीवन पर यहां विचार करने का हमारा उपक्रम है ।

डा. नरेन्द्र कोहली का जन्म 6 जनवरी , सन् 1940 ई. को सियालकोट (जो अब पाकिस्तान में है) में लगभग प्रातः साढ़े नौ बजे हुआ था । जिस घर में उनका जन्म हुआ वह घर उनके दादा का था । दादा पंजाब के वन-विभाग में हेड-क्लर्क थे और उसी पद से निवृत्त हुए थे , लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति बुरी नहीं थी । सब जानते हैं कि वन-विभाग में तनख्वाह से ज्यादा ऊपर को आमदनी होती है , और बकोल प्रेमचन्द के "ऊपरी आमदनी तो पानी का बहता हुआ सोता है , जो कभी खत्म नहीं होता । " होश संभालने पर लेखक को जो तथ्य ज्ञात हुए उनके अनुसार पैतृक मकान का उनके पिता का हिस्सा उनके बड़े भाई ने तिकड़मबाजी से हड़प लिया था । उस हिस्से को लेकर भाइयों में जो झगड़ा हुआ वह उनके जीवन के अन्त तक चलता रहा । दादा के देहांत पर भी उनके बड़े भाई नहीं आये थे ।[8]

लेकिन दादा ने अपनी वैध-अवैध कमाई से दो मकान बनवाये थे । एक मकान "ट्रंकां वाले बाजार " के "मुहल्ला डिप्टी का बाग " में था , जो पुराने किस्म का मकान था । उसे दादाजी ने किराये पर उठा रखा था । दूसरा मकान "मुहल्ला वाटर वर्क्स " में एबट रोड पर था । यह मकान शहर के अपेक्षाकृत नये विस्तार में बना था और अधिक हवादार था । इसमें दादाजी खुद रहते थे । उनकी दो पत्नियां थीं । दादा की बड़ी पत्नी -- लेखक की सगी दादी -- अपने पति (अर्थात् दादाजी) से अलग , चाचाजी के पास जमशेदपुर में रहती थीं और दादा अपनी दूसरी पत्नी के साथ इस दूसरे मकान में रहते थे । दादा का नाम हरकिशनदास और दादी का नाम भाइयां देई था , छोटी दादी (सौतेली दादी) का नाम दुर्गादेवी था । दादा उर्दू और अंग्रेजी जानते थे और दोनों दादियां निरक्षर थीं । लेखक के पिता का नाम परमानंद कोहली है और उनकी आंखों में बचपन से कुकरे थे । दृष्टि दोषपूर्ण होने के

होने के सबब लेखक के पिताजी सातवीं-आठवीं से आगे पढ़ नहीं पाये । फलतः दादाजी ने सियालकोट में उनके लिए पुस्तकों और पत्रिकाओं की एक दुकान खोल दी थी । किन्तु वह दुकानदार नहीं , अपितु साहित्यकार बनना चाहते थे । उन्होंने दो-एक कहानियां भी लिखी थीं, जो वहां के किसी दैनिक में प्रकाशित भी हुई थी ; किन्तु न तो वह साहित्यकार बन सके , न दुकानदार । अंग्रेज सरकार विरूद्ध किये गये एक प्रदर्शन में वह पकड़े गये । दादाजी न केवल उनको जमानत पर छुड़ा लाये , बल्कि अपने अंग्रेज अधिकारी से कहकर उन्हें अपने ही विभाग में अस्थायी क्लर्क की नौकरी भी दिलवा दी । समुचित रूप से शिक्षित न होने के कारण तथा अपने दृष्टिदोष से वह आगे प्रगति नहीं कर सके । न उनकी नौकरी पक्की ﴾Permanent﴿ हुई और न उनकी पदोन्नति हुई । किन्तु अपने परिश्रम तथा दादाजी के कारण अंग्रेज अधिकारी के कृपाकांक्षी होने से उनको अस्थायी ﴾Temporary﴿ होते हुए भी कभी नौकरी से निकाला नहीं गया । जहां थे , त्रिशंकु की भांति वहीं पर टंगे रहे ।[9]

लेखक की माताजी विद्यावंती , अपने नाम के विपरीत , सर्वथा निरक्षर थीं । वह सियालकोट के पास के एक गांव "कौलोकी" के एक कृषक परिवार से थीं और उस गांव में न कोई स्कूल था , न डाकघर , न अस्पताल , न ही कुछ और । अपने शैशव के संदर्भ में लेखक लिखते हैं —" मेरा शैशव कभी भी नटखट और खिलंडरे बच्चों का शैशव नहीं रहा । आरम्भ में कदाचित मैं काफी बीमार और रोना बच्चा रहा होऊंगा । शरीर पर फोड़े-फुंसियां भी बहुत थीं । अधिकांशतः मां से ही चिपका हुआ रहता था । शक्ति की कमी रही होगी , पर ऊर्जा की कमी नहीं थी ; क्योंकि मैं अपने ढंग से सदा ही अधिक काम करने वाला प्रसिद्ध रहा हूं । या शायद ऊर्जा , अधिक नहीं थी , पर जो थी , उसे मैंने बिखरने नहीं दिया ।"[10] लेखक को अपने जीवन की याद लाहौर से है । दिल्ली के पुराने

शाहदरा जैसे किसी मुहल्ले में " भगतां दा चौक " के पास हरनामसिंह के मकान में हम किरायेदार थे । एक कमरा और रसोई नीचे की मंजिल पर थे और एक कमरा और शौचालय पहली मंजिल पर था । जब किराया बढ़ाने की बात हुई और पिताजी अधिक किराया नहीं दे पाये तो उन्होंने एक कमरा छोड़ दिया । बाद में शायद रसोई भी छोड़ दी थी । लेखक को यह सब ठीक से याद नहीं है , केवल इतना याद पड़ता है कि मंजिल के एक कमरे में ये लोग रहते थे । गर्मियों के दिनों में कमरा खूब तपता था , और तब जैसे-जैसे धूप चढ़ती जाती थी , कमरे की चारपाई खिसकती जाती थी । जिस गली में यह मकान था वहां नलियों की समुचित व्यवस्था नहीं थी । घर के बाहर गन्दा पानी जमा करने के लिए एक गड्ढा था जिसे हौदी कहते थे । फलतः इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि ज्यादा पानी न बहे । उतना ही पानी बहाया जाय जितना कि उस हौदी में समा सके । पानी के अधिक बहने पर हौदी "ओवरफ्लो " हो जाती और पूरी गली में कीचड़ हो जाता । इसलिए मकान-मालिक ने मां और पिताजी को हिदायत दे रखी थी कि पानी अधिक न बहाया जाय । अतः मां और पिताजी कमसे कम पानी में स्नान कर लिया करते थे । लेखक और उनके बड़े भाई भूषण को दूसरे मुहल्ले में अपनी एक बुआ के घर नहाने जाना पड़ता था । लेखक के सबसे बड़े भाई सोमदेव को सौतेली दादी ने गोद ले रखा था । उन्हें लेखक और उनके भाई भूषण उसी रिश्ते के चलते आज भी "चाचाजी" कहकर पुकारते हैं । वह दादा-दादी के पास सियालकोट में ही रहते थे । लेखक के दूसरे भाई सुदर्शन और एकमात्र बहन विमला भी दादा-दादी के पास ही रहते थे । लाहौर में अपने मां-बाप के पास ये तीन भाई रहते थे -- लेखक खुद , बड़े भाई भूषण और सबसे छोटा भाई रवीन्द्र । इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उनके माता-पिता के कुल छः संतान थीं । उनमें से एक को दादा-दादी ने गोद ले रखा था । [11]

छः साल की अवस्था होने पर लेखक को लाहौर की देवसमाज हाईस्कूल में दाखिल करवा दिया गया । उस समय बच्चे गाजे-बाजे के साथ स्कूल भेजे जाते थे , पर लेखक के पिता आर्थिक दृष्टया इतने समर्थ नहीं थे कि इन सबका खर्च वहन कर सके । अतः लेखक को उनके पिताजी स्कूल छोड़ आये थे । रास्ते में कहीं से सवा रूपये के लड्डू खरीद लिये गये थे , जिनको मास्टर रूड़सिंह के हवाले कर बालक नरेन्द्र को कक्षा में बिठा दिया गया था । उस समय लाहौर में शिक्षा का माध्यम उर्दू था । उस समय इस बात को लेकर लेखक को बहुत आश्चर्य होता था कि बाहर चारों तरफ लोग पंजाबी बोलते थे , पर कक्षा में घुसते ही उनके मुंह से उर्दू क्यों टपकने लगती थी । [12]

सन् 1946 के आसपास लेखक के पिताजी की आँखें बहुत ज्यादा कमजोर हो गई थी । डाक्टरी जांच करवायी गयी । रिपोर्ट में आया कि उनकी आँखें अब सरकारी दफ्तर में कार्य करने के लिए सर्वथा अयोग्य है । फलतः उनको लगभग 25 साल की अस्थायी नौकरी से मुक्त कर दिया गया । अब दूसरा कोई उपाय न रह गया था । फलतः लेखक का परिवार पुनः सियालकोट आ जाता है । पुराना मकान पिताजी और चाचाजी की संयुक्त संपत्ति था और नया मकान दादा ने अपनी छोटी पत्नी (लेखक की सौतेली दादी) के नाम कर दिया था । तब तक दादा का देहान्त हो चुका था । पुराने मकान में नीचे की मंजिल अंधेरी और सीलन भरी थी । वहां कोई रहता नहीं था । पहली और दूसरी मंजिल में किरायेदार रहते थे । दूसरी मंजिल पर पिताजी ने अपने लिए एक कमरा और रसोई किसी प्रकार खाली करवा लिये थे । लाहौर से आने के पश्चात् ये लोग वहीं पर रहने लगे । नीचे की मंजिल का आगे का कमरा कुछ-कुछ हवादार था , उसमें पिताजी ने खेल के सामान की दुकान खोली । उसके लिए उन्हें मां के गहनों को बेच देना पड़ा । सियालकोट से कुछ दूरी पर जेल की दीवार से लगी हुई गंडासिंह हाईस्कूल थी । लेखक तथा उनके बड़े भाई को उसी स्कूल में दाखिला दिलाया गया । [13]

तभी देश का बंटवारा हुआ था । एबट रोड पर हमला हुआ तो लेखक की सौतेली दादी लेखक के दूसरे भाई-बहनों के साथ कैम्प चली आयीं । वहां से वे लोग भारत आये और चाचाजी के पास जमशेदपुर पहुंच गये । लेखक की सगी दादी भी दादा के देहान्त पर सियालकोट आयी थीं और तभी से उनके साथ ही रहती थीं । ये लोग भी कैम्प पहुंच गए और वहां से गाड़ी में " डेरा बाबा नानक" के पास रावी के पुल के नजदीक उन्हें छोड़ दिया गया । यह क्षेत्र पाकिस्तान में था । पुल पार करने पर भारत का क्षेत्र आ जाता था । सब लोग पैदल पुल पार करके भारत में प्रविष्ट हुए । वहां से सैन× सैनिक ट्रकों में उनको किसी अस्थायी डेरे पर पहुंचाया गया । "डेरा बाबा नानक" में करीब एक महीने ×× रुककर , अमृतसर और दिल्ली होते हुए लेखक का परिवार जमशेदपुर पहुंचता है ।[14]

लेखक के चाचाजी टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी में " टाउन डिपार्टमेण्ट " में सैनिटरी इंजीनियर थे । उनके पास तीन कमरों का क्वार्टर था । उनके तब तक अ×× आठ बच्चे थे । घर में एक नौकर और एक आया भी थी । अब दश व्यक्ति "अटौर" आ गए थे । फलतः घर छोटा पड़ने लगा । फिर उनके परिवार का वह घर था और लेखक के परिवार के लोग उनके घर आ पड़े थे । परिणामतः परिस्थितियां वैसी ही बनती चलीं गयीं जैसी कि स्वभावतः होनी थीं । लेखक के पिताजी ने कदमा बाजार में पटरी पर फलों की दुकान लगानी शुरू की । सोमदेव पहले बसों में चेकर हुए फिर टिस्कों में ट्रेसर हो गए । सुदर्शन दिन में पिताजी के साथ दुकान लगाते और रात को नाइट स्कूल में पढ़ते । मां घर-काम करतीं । बहनजी , रवीन्द्र और भू भूषण के साथ लेखक को भी स्कूल में भर्ती करवा दिया गया । जिस दिन ये लोग जमशेदपुर पहुंचे बहनजी ने नहलाते हुए बालक नरेन्द्र (लेखक) को बताया था कि वहां के लोग पंजाबी नहीं बोलते । यहां वही भाषा बोलते हैं जो स्कूलों में पढ़ायी जाती है , अर्थात् हिन्दी । (15)

डा. नरेन्द्र कोहली की शिक्षा-दीक्षा :

जैसा कि पहले कहा गया है बालक नरेन्द्र की शिक्षा उर्दू माध्यम में हो रही थी । सियालकोट की गंडासिंह हाईस्कूल में पढ़ रहे थे , लेकिन बंटवारे के कारण उनका परिवार सियालकोट से जमशेदपुर आ गया । उनके पास "स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट " भी नहीं था । इसलिए उनकी दूसरी कक्षा की परीक्षा ली गई । उनके साथ और भी कई बच्चे थे । सबके सब परीक्षा में फेल हो गये । नरेन्द्र भी फेल हुए , लेकिन फेल होने वालों में उनके नंबर सबसे ज्यादा थे । अतः उनको तीसरी कक्षा में ले लिया गया । जमशेदपुर में उनका दाखिला "धतकिडीह लोअर प्राइमरी गर्ल्स स्कूल " में हुआ । यह 12 , स्टाकिंग रोड, के पास था । स्कूल लड़कियों का था , पर लड़कियों की संख्या बहुत कम होने के कारण उसमें लड़कों को भी लिया गया था । जमशेदपुर में यही एक मात्र उर्दू माध्यम का स्कूल था । इस स्कूल में दाखिला लिया उन दिनों का एक प्रसंग स्वयं लेखक के शब्दों में देखिए —" कक्षा में आने पर दो अध्यापिकाएं मुझे बाहर मैदान में ले गई । एकान्त में उन्होंने पूछा , " तुम हिन्दू हो ? " "हां" मैंने उत्तर दिया। - "तो फिर उर्दू क्यों पढ़ते हो ? " " हम तो उर्दू ही पढ़ते हैं " मेरा उत्तर था । शायद उनके जीवन में पहली बार कोई हिन्दू लड़का उर्दू की कक्षा में आया था ।"[16] जब तीसरी कक्षा की परीक्षा हुई बालक नरेन्द्र को द्वितीय स्थान मिला । प्रथम स्थान उस लड़के का था जो उनकी क्लास टीचर के पति से ट्युशन पढ़ता था । लेकिन उसके बाद चौथी से लेकर सातवीं कक्षा तक नरेन्द्र ही प्रथम आया था । वह कभी दूसरे ~~xxxx~~ स्थान पर नहीं आया । इससे प्रमाणित होता है कि डा. नरेन्द्र प्राइमरी के दिनों से ही पढ़ने में तेज़ थे । चौथी कक्षा में लेखक "न्यू ~~xxx~~ मिडिल स्कूल " में आ गए थे । वह कक्षा में प्रथम आये थे और इसी सबब मानिटर भी बने । इस समय की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि शनिवार के पहले पीरियड में होनेवाले वादविवाद में लेखक की धाक जम गई थी । छठी कक्षा में

"एजुकेशन वीक" के अवसर पर सभी मिडिल स्कूलों की एक वाद-विवाद प्रतियोगिता हुई थी । लेखक उसमें प्रथम आये । उसमें उनको एक मेडल भी मिला था जिसे वह कई-कई दिनों तक अपनी कमीज पर टांगे-टांगे घूमते थे । विषयवस्तु पिताजी ने लिख दी थी और लेखक ने उसे रट लिया था । बाद में अनेक बार अनेक लोगों के सामने उस भाषण को लेखक ने दुहराया भी था । भाषण-प्रतियोगिताओं का यह सिलसिला बराबर बना रहा । आठवीं से ग्यारहवीं तक चारों वर्षों में "एजुकेशन वीक " के दौरान वाद-विवाद प्रतियोगिता में हमेशा लेखक ही बाजी मारते रहे । वाद-विवाद प्रतियोगिता में पहले वह उर्दू में बोलते थे , बाद में हिन्दी में बोलना भी शुरू किया । बिहार में बच्चों की एक संस्था "किशोर-दल" नाम से थी । उस दल की ओर से जो प्रतियोगिताएं होती थीं , उनमें पहले पुरुलिया में और फिर छपरा में उर्दू वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम आये । इस प्रकार लड़कों में प्रथम और सर्वश्रेष्ठ वक्ता के पुरस्कार भी लेखक ने जीते । उसके बाद कालेज में होने वाली अनेक प्रतियोगिताओं के अलावा बिहार विश्वविद्यालय की ओर से हिन्दी और उर्दू की प्रतियोगिताओं में भाग लिया और कुछ पुरस्कार भी जीते । इस प्रकार वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में जीतने और प्रथम आने का एक नशा-सा लेखक को मानो हो गया । [17]

जीवन में संयोग और अवसरों का बड़ा महत्व होता है । ऐसे ही एक संयोग या सुयोग से लेखक को जब वह छठी कक्षा में थे तब उनको कुछ साहित्यिक रुचि के मित्र मिल गये थे । उनकी संगत के कारण कक्षा की हस्तलिखित पत्रिका में लेखक की दो कविताएं प्रकाशित हुई थीं । इस संदर्भ में लेखक स्वयं कहते हैं —" वे कविताएं इसलिए थीं , क्योंकि फुटे से नापने पर उसकी पंक्तियां बराबर निकलती थीं और प्रत्येक पंक्ति के अंत में "है " शब्द आता था ।" [18] सातवीं कक्षा में कुछ कहानियां भी लिखीं , जो कक्षा के ही एक मित्र की हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित हुईं ।

इन्हीं दिनों की बात है कि चाचाजी को धनबाद में नयी नौकरी मिल गई थी । उनके परिवार के साथ बड़ी दादी भी चली गयी थीं । छोटी दादी अपने xxxxx सौतेले बेटों से रूठकर जालंधर लौट आयी थीं । उन दिनों में लेखक के परिवार को मकान के लिए खूब भटकना पड़ा था और अन्ततः वे कदमा के केxकेxx के. डी. फ्लैट्स के आउटहाउस (नौकरों के लिए बने मकान) के दो कमरों में आ गए x थे । सोमदेव की शायद कोई पदोन्नति हो गई थी । उन्होंने किसी विश्वविद्यालय से प्राइवेट में आई. ए. कर लिया था और शाम को " टेक्निकल इंस्टिट्यूट " में इंजीनियरिंग का कोई डिप्लोमा कर रहे थे । पिताजी और सुदर्शन ने व्यापार कुछ बढ़ा लिया था । एक पक्की दुकान किराये पर ले ली थी । सुदर्शन भैया अंदर की पक्की दुकान में बैठते थे । पिताजी , भूषण और मोहन बाहर पटरी पर दुकान लगाया करते थे । आठवीं कक्षा में बाहर पटरी पर फल बेचते हुए एक घटना देखकर लेखक ने उर्दू में एक कहानी लिखी थी — " हिन्दोस्तां: जनता निशां " । यह कहानी स्कूल की मुद्रित पत्रिका में प्रकाशित हुई थी । मुद्रित पत्रिका में लेखक की यह पहली रचना थी । उन दिनों के संदर्भ में लेखक ने लिखा है —" उन दिनों के विषय में यही याद है कि कक्षा में मैं प्रथम आता था और भाषण-प्रतियोगिताओं में पुरस्कार जीतता था । इसलिए बाहर पटरी पर फल बेचने और आउटहाउस में रहने के बावजूद स्वयं को किसीसे हीन नहीं मानता था । फ्लैट में रहने वाले बच्चों से झगड़ा भी होता था , क्योंकि वे अफसरों के बच्चे थे , अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ते थे और फ्लैटों में रहते थे । पर फ्लैटों में रहनेवाला प्रभाकर मेरा मित्र भी था । खेलने के नाम पर हम गुल्ली-डंडे से लेकर क्रिकेट , फुटबाल और वालीबाल ... सबकुछ खेलते थे , पर मैं कभी अच्छा खिलाड़ी नहीं था । मेरा रिकार्ड है कि मैंने जीवन-भर कभी किसी खेल में कोई पुरस्कार नहीं जीता ।" [19]

उन दिनों में लेखक ने अपने एक मित्र मोहन से मिलकर एक छोटा-सा पुस्तकालय खोला था । शायद चार आने महीने पर लोगों को

उसका मैम्बर बनाते थे और कुछ नयी पुस्तकें उनको पढ़ने के लिए देते थे । उन दिनों उर्दू में "खिलौना" , " बीसवीं सदी" और " नया अदब" या ऐसी ही कुछ पत्रिकाएं पढ़ते थे । प्रेमचन्द का "गोदान" भी तभी उर्दू में पढ़ा था । "जासूसी दुनिया" बड़ी प्रिय पत्रिका थी । लेखक का एक मुस्लिम दोस्त मतीन था । उसने कहीं से यशपाल की "वो दुनिया " भी पढ़ने के लिए दी थी । उन दिनों में मतीन , नसीम और लेखक ये सब अफसानानिगार (उपन्यासकार) बनने के चक्कर में थे । हिन्दी में राबर्ट ब्लेक , सैक्सटन ब्लेक , जासूस महल , मधुप जासूस इत्यादि तो पढ़ते ही थे । उन दिनों की एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि बहनजी कालेज में पहुंच गई थी और हिन्दी साहित्य पढ़ रही थीं । वह प्रायः तुलसी , पद्माकर , रत्नाकर , जयशंकर प्रसाद , निराला , पंत और महादेवी की कुछेक पंक्तियां पढ़कर सुनाया करती थीं और शायद उनके इस प्रभाव के कारण ही लेखक ने तब निर्णय किया था कि आगे चलकर मैट्रिक के बाद वह न उर्दू पढ़ेगा न विज्ञान । हिन्दी साहित्य पढ़ने का पक्का इरादा बना लिया था । बैरिस्टर , डाक्टर , इंजीनियर , आई.ए.एस. अफसर आदि कुछ नहीं बनना है । बनना है तो केवल हिन्दी का लेखक । उन्हीं दिनों छायावादी कवियों से प्रेरित होकर , उनकी शब्दावली (Diction) को लेकर लेखक ने ढेर सारी प्रेम-कविताएं लिख डाली थीं । उन दिनों में लड़कियों के लिए कुछ आकर्षण भी जगा था और यौन-संबंधों के विषय में मित्रों से कुछ अधकचरा ज्ञान (या अज्ञान ?) भी प्राप्त हुआ था । मैट्रिक (ग्यारहवीं) की परीक्षा देने तक लेखक अपने भविष्य का पथ तय कर चुके थे । पिताजी और तीन बड़े भाइयों की सम्मिलित कमाई के कारण अब घर की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हो चला था और पढ़ने वालों में बहनजी , रवीन्द्र और लेखक रह गए थे , तथापि लेखक इस कटु सत्य से भलीभांति अवगत थे कि उनका परिवार उन्हें जमशेदपुर से बाहर कहीं भेजकर पढ़ाने में अक्षम है । दूसरे स्वयं लेखक की उसमें रूचि भी नहीं थी । वह अपना रास्ता कदाचित् तय कर चुके थे ।[20]

लेखक के इस महत्त्वपूर्ण पड़ाव के संदर्भ में डा. हितेन्द्र यादव लिखते हैं --" जमशेदपुर एक औद्योगिक नगर है । यहां के बच्चों और उनके अभिभावकों की महत्त्वाकांक्षा प्रायः इंजीनियर बनने की होती है । उन्होंने उर्दू माध्यम से ग्यारहवीं के विज्ञान के विषयों की परीक्षा दी । छहत्तर प्रतिशत अंक भी आए , पर वह इंजीनियरिंग छोड़ , विज्ञान भी पढ़ना नहीं चाहते थे । गर्मियों की छुट्टियों में उन्होंने रामायण और महाभारत का संक्षिप्त उर्दू संस्करण पढ़ डाला । थोड़ा-थोड़ा अंग्रेजी भी पढ़ने लगे । इसलिए बड़े भैया की अंग्रेजी पुस्तकों में से चुन-चुन कर सरल पुस्तकें पढ़ने का प्रयत्न किया और बाद में अंग्रेजी साहित्य की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें पढ़ीं । 1957 की जुलाई में , उन्होंने विज्ञान के विषयों में 76 प्रतिशत अंक होने के बावजूद को-आपरेटिव कालेज में आई. ए. में प्रवेश लिया और विषय चुने -- हिन्दी , मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र । घरवालों और अनेक अध्यापकों को लगा कि लड़के का दिमाग खराब हो गया है जो विज्ञान छोड़ , कला में आ गया है । लेकिन उन्होंने किसीकी नहीं सुनी और अपने निर्णय पर दृढ़ रहे ।" 21

यह पहले बताया जा चुका है कि उन्होंने उर्दू माध्यम से शिक्षा प्राप्त की थी और इसलिए उर्दू से हिन्दी में आना कठिन था , बल्कि शिक्षा विभाग के जड़ नियमों के रहते नामुमकिन । पर इसके लिए उन्होंने एक तिकड़म भिड़ाया । उन दिनों जमशेदपुर में "मुख्य हिन्दी" या " मुख्य उर्दू " के लिए अंग्रेजी का एक शब्द "क्लासिक्स" प्रयुक्त होता था । लेखक ने इस बात का फायदा उठाते हुए विषय के रूप में "क्लासिक्स " लिखा और उनका काम बन गया । हिन्दू लड़के के लिए "क्लासिक्स" हिन्दी ही होगा , ऐसा मानकर उनको हिन्दी की कक्षा में भेज दिया गया । आरंभ में कुछ कठिनाई अक्ष आयी , किन्तु दो-चार महीनों के अभ्यास और अध्यवसाय से सब कुछ ठीक हो गया । कक्षा की प्रथम परीक्षा में वह हिन्दी में प्रथम आये । 22

लेखक ने इन दिनों में जो अंग्रजी साहित्य की पुस्तकें पढ़ीं उनमें पर्ल बक की " द गुड अर्थ " , " ड्रायगन सीड " ; जेन आस्टन और एमिली ब्रांटे की "एमा" , " प्राइड एण्ड प्रेजुडिस " तथा "वुदरिंग हाइट्स " आदि थीं । इनके अतिरिक्त इन्होंने समरसेट माम को भी पढ़ा था । इस "एक्स्ट्रा रीडिंग " के लिए वह प्रायः गर्मियों की छुट्टियों का प्रयोग करते थे । [23]

अपने कालेज तथा अध्यापकों के संदर्भ में वह लिखते हैं -- " को-आपरेटिव कालेज , जमशेदपुर में शायद पहला कालेज था और अभी बहुत पुराना नहीं था । उसका अपना भवन तक नहीं बना था । इसलिए क.एम. पी.एम. हाईस्कूल के भवन में शाम के समय वह कालेज लगता था । अध्यापक भी नये थे । पर आज सोचता हूं तो लगता है कि मुझे बहुत अच्छा कालेज मिला , बहुत अच्छे अध्यापक मिले और बहुत अच्छा वातावरण मिला ।" [24]

जब कालेज में आये तो उन्हें एक विस्तृत आकाश मिला । यहां "लेखक मंडल" और " हिन्दी साहित्य परिषद " ने उनको आकृष्ट किया । डा. सत्यदेव ओझा " लेखक मंडल" के अध्यक्ष और संयोजक थे । हालांकि कालेज से उसका कोई सम्बन्ध न था , पर कालेज के छात्र ही उसमें अधिकांशतः अपनी रचनाएं पढ़ते थे । यहां उन रचनाओं पर टिप्पणियां भी होती थी , अतः एक समीक्षागत विवेक भी उससे जाग्रत हो रहा था । "हिन्दी साहित्य परिषद " कालेज की अपनी संस्था थी और साहित्यिक गतिविधियां ही उसका कार्य-क्षेत्र था । लेफ्टिनेण्ट चन्द्रभूषण सिन्हा और श्री रमाकान्त झा इनके अन्य अध्यापक थे । यद्यपि "लेखक मंडल" डा. सत्यदेव ओझा ही चलाते थे , लेकिन छात्रों में अधिक लोकप्रिय अध्यापक तो सिन्हा साहब ही थे । इन दिनों में एक नया शौक लेखक के जीवन से जुड़ा । वह शौक था नाटक में अभिनय करने का । यह समय एक नशे का-सा होता है । लड़के-लड़कियों का

साथ-साथ पढ़ना , कविताएं-कहानियां लिखना , प्रतियोगिताओं में जाना , नाटकों में अभिनय करना , पुरस्कार जीतना यही मुख्य रूप से इन दिनों का शगल था । आई.ए. की परीक्षा दी ही थी कि "सरिता" में "नये अंकुर" स्तम्भ के अंतर्गत " पानी का जग , गिलास और केतली " नामक कहानी छपी । उसके उपरान्त फरवरी सन् 1960 में "कहानी" पत्रिका में "दो हाथ " नामक कहानी प्रकाशित हुई । लेखक इसे ही अपनी पहली प्रकाशित रचना मानते हैं । [25]

इन दिनों के संदर्भ में स्वयं कोहलीजी लिखते हैं —" इधर घर में कई परिवर्तन हुए थे । घर की आर्थिक स्थिति कुछ बेहतर हो गई थी । हम लोग कदमा के के.डी. फ्लेट का आउटहाउस छोड़कर साउथ पार्क के एक बड़े भवन के एक अच्छे फ्लेट में आ गए थे । बड़े भैया सोमदेव का विवाह हो गया था । 1959-60 की मेरी कहानियां घर के इन्हीं परिवर्तनों पर आधृत हैं । बहनजी का भी विवाह हो गया । मैंने बी.ए. आनर्स की परीक्षा दी और आगे की पढ़ाई के लिए दिल्ली आ गया ।" [26]

दिल्ली आकर लेखक ने रामजस कालेज में प्रवेश लिया और युनिवर्सिटी हास्टेल में अपना डेरा जमाया । दिल्ली बड़ा शहर है , बल्कि महानगर है और दिल्ली विश्वविद्यालय का भी काफ़ी नाम है । लेखक यहां के माहौल में परदेसी समझे जा सकते हैं और रांची जैसे छोटे विश्वविद्यालय से पढ़कर आये थे जिसके पास दूसरों से श्रेष्ठ साबित करने लायक कुछ भी नहीं था । पर लेखक को इस बात का संज्ञान अवश्य था कि उनमें साहित्यकार होने के तमाम अभिलक्षण मौजूद हैं और साहित्यकार का प्रथम लक्षण यही होता है कि वह स्वयं को कभी हीन नहीं समझता । मन की अतल गहराइयों में उसका सत्त्व कहीं छिपा होता है और वहीं से वह ऊर्जा ग्रहण करता है । इसे लेखक के जीवन का दूसरा अहम मोड़ कह सकते हैं । पहला मोड़ जमशेदपुर के संघर्षपूर्ण जीवन का जहां भीतर-ही- भीतर कहीं साहित्य के संस्कार अंकुरा रहे थे और अब यह दूसरा मोड़ ।

अपने दिल्ली आगमन के संदर्भ में डा. नरेन्द्र कोहली कहते हैं -- " अब सोचा तो लगा कि जमशेदपुर में बहुत अच्छा वातावरण था , जहाँ एक-दूसरे को सम्मान दिया जाता था और परस्पर मैत्री-भावना थी । हम बीसेक विद्यार्थी -- लड़कियां और लड़के -- ऐसे भी थे , जो एक-दूसरे के घर जाते थे । इकट्ठे घूमते-फिरते थे । परस्पर आकर्षण भी थे । जहां अनेक सखा थे , वहीं अनेक सखियाँ भी थीं ; पर प्रेम-सम्बन्ध कोई भी विकसित नहीं हुआ था । दिल्ली में उस वातावरण के स्थान पर मात्र उपेक्षा मिली । प्रत्येक व्यक्ति ने हीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया । पढ़ाई में , वाद-विवाद प्रतियोगिता में , साहित्य में , धन पद और सामाजिक सम्मान में । पर यह स्थिति अधिक देर चली नहीं । वाद-विवाद तो मैंने समय नष्ट होने के भय से स्वयं ही छोड़ दिया । रामजस कालेज की पत्रिका का छात्र-संपादक मैं बन गया । हास्टेल यूनियन का सेक्रेटरी मैं था । कालेज के नाटक का नायक भी मैं ही था । "सारिका" में मोहन राकेश के सम्पादन में " होने वाली पत्नी" कहानी छप गई । और मजे की बात थी कि कालेज की परीक्षा में प्रथम भी आ गया । स्थिति उतनी खराब नहीं रही । " 27

एम. ए. में लेखक अपनी कक्षा में द्वितीय स्थान पर रहे । तदुपरांत रिसर्च स्कालर के रूप में रामजस कालेज के छात्रावास में टिक गये । डी.ए.वी. सांध्य कालेज में उनका पहला साक्षात्कार (Interview) हुआ और उनकी नियुक्ति असिस्टेंट लेक्चरर के रूप में हो गई । तीन सौ रूपया मासिक वेतन था । चालीस रूपये डी.ए. के रूप में मिलते थे । इनमें से 100-150 रूपये पिताजी को भेज देते थे । सांध्य कालेज लेखक को अनुकूल नहीं था , अतः वह गवर्नमेण्ट कालेज मोतीबाग में आ गये । दो साल के बाद वह लेक्चरर हो गये थे । वहां पर प्रातःकालीन कक्षाएं होती थीं अतः लेखक को वह अधिक अनुकूल पड़ता था । कालेज के नामकरण में कई बार परिवर्तन हुए । अब उसे मोतीलाल नेहरू कालेज कहते हैं । अद्यावधि लेखक उसी कालेज में है (सन् 1997) ।

सन् 1966 में लेखक का एम.ए. का शोध-निबंध " प्रेमचन्द के साहित्य सिद्धान्त " प्रकाशित हुआ । एम. ए. के उपरान्त शोध-कार्य हेतु पंजीकरण हो गया था , किन्तु कुछ पारिवारिक कारणों से उसमें व्यवधान आता गया --" इन परेशानियों में शोध-कार्य जाने कहां छूट गया , पर व्यंग्य का विकास हुआ । अधिकांश व्यंग्य रचनाएं इन्हीं दिनों में लिखी गयीं (अर्थात् सन् 1966 - 67)" [28] अतः कुछ अंतराल के बाद " हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धान्त " विषय पर उन्होंने अपना पी-एच.डी. शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया । [29] इस बीच में सन् 1967 में "उमेश प्रकाशन" से " कुछ प्रसिद्ध कहानियों के विषय में " शीर्षक से कहानियों की समीक्षा पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई । इसके अतिरिक्त "नेपथ्य" और ~~बर~~ " बाबा नागार्जुन " नामक उनकी अन्य दो किताबें हैं । उनके रचनात्मक ग्रन्थों का ब्यौरा तो अन्यत्र दिया जायेगा , यहां केवल उनकी आलोचनात्मक व शोध-विषयक पुस्तकों की बात है । लेखक का ध्यान रचनात्मक साहित्य (Creative Literature) की ओर ही अधिक रहा है , क्योंकि "बकलम खुद " में उन्होंने अपनी शिक्षा का ब्यौरा केवल एम.ए. तक का दिया है । उस पूरी किताब में कहीं उन्होंने अपनी पी-एच.डी. उपाधि और एतद्विषयक शोध-प्रबंध का जिक्र नहीं किया है ।

वैवाहिक जीवन :

अपने जमशेदपुर के जीवन के संदर्भ में लेखक ने कहा है कि -- "जहां अनेक सखा थे , वहीं अनेक सखियां भी थीं ; पर प्रेम-संबंध कोई विकसित नहीं हुआ था । " [30] लेकिन लेखक जब दिल्ली आये तो यहां "एक अदद प्रेम भी हो गया । " [31] इस संदर्भ में स्वयं लेखक कहते हैं -- "मेरा ~~विश्वास~~× एकतरफा प्रेम में विश्वास नहीं है ; अतः उससे पूछ लिया । उसने सहमति दे दी । बस , फिर क्या था -- प्रेम करना आता नहीं था और प्रेम कर रहे थे । अर्थात् भीड़ में ही बात करने का बहाना ढूंढ रहे हैं । दिन-भर में पांच-सात मिनट बात हो गई तो प्रसन्न ; नहीं

तो बौराये-बौराये फिर रहे हैं ।"[32] एम.ए. की परीक्षा के बाद लेखक लड़की से पूछते हैंकि जमशेदपुर जा रहे हैं , जाने कब लौटना हो , तो तुम्हारा इरादा क्या है ? जवाब में वह कहती है कि उसके घर वाले इस संबंध को नहीं स्वीकार करेंगे । तब लेखक ने उसे कई तरह से समझाया पर उसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं था । लेखक घर जाने से पहले इस द्वन्द्वात्मक स्थिति को खत्म करना चाहते थे , अतः कहते हैं —" यदि तुम नहीं कहती हो तो मैं कहता हूं — हमारा सम्बन्ध आज से समाप्त हुआ ।"[33] ऐसा कहकर लेखक ने अपने पर्स में रखा हुआ उसका फोटो निकालकर उसे दे दिया और कहा कि मेरे दोनों पत्र मुझे लौटा देना । उसने अपना फोटो तो ले लिया पर लेखक के पत्र उसने कभी नहीं लौटाये । इस प्रकार पहला प्रेम असफल रहा । हालांकि उसे प्रेम कहना भी नहीं चाहिए । उसके बाद एम.ए. के परीक्षाफल के बाद लेखक पुनः दिल्ली आते हैं और उसके उपरान्त मोतीलाल नेहरू कालेज में लेक्चरर होने तक का ब्यौरा हम दे चुके हैं ।

प्रथम असफल प्रेम के बाद की मनःस्थिति के संदर्भ में लेखक बताते हैं —" अब महसूस किया कि दिनभर लड़कों के होस्टेल में रहता हूं , शामको लड़कों के कालेज में पढ़ाता हूं । जीवन से नारी तत्व जैसे निकल ही गया है । असफल प्रेम की परेशानी अलग । जीवन इतना उदास और वीरान कभी नहीं था । इतना कि पढ़ना-लिखना भी असंभव हो गया ।"[34]

इन दिनों में सुश्री मधुरिमाजी से लेखक का परिचय होता है । लेखक जब एम.ए. फाइनल में थे तब मधुरिमाजी एम.ए. प्रीवियस में थीं । दोनों की कक्षाएं पास-पास के कमरों में होती थीं । उनके संदर्भ में स्वयं लेखक कहते हैं —" वह असाधारण सुन्दरी तो नहीं थी , पर दृष्टि उसके चेहरे पर पड़ती थी तो रुकती भी थी । सुना था पढ़ने में होशियार थी — कभी-कभार पढ़ाई की बात हो जाती थी और कभी शरारत भी ।"[35]

असफल प्रेम की घटना के बाद इनका मिलना बढ़ गया । लेखक के मन में उनके लिए प्रबल आकर्षण था । मिलना-जुलना बढ़ा तो एक-दूसरे को समझा , निकट आये और साहचर्यजन्य सहज प्रेम विकसित हुआ । बाद में वह माडर्न कालेज में असिस्टेण्ट लेक्चरर हो गयीं । अब उनके कालेज का नाम कमला नेहरू कालेज हो चुका है ।

9 अक्तूबर 1965 में लेखक और मधुरिमाजी का विवाह हो गया । विवाह के उपरान्त आरंभिक झगड़े और मतभेद वगैरह होते रहे , पर उन्होंने कोई गंभीर मोड़ नहीं लिया । हाँ , लेखनी कुछ अधिक चल पड़ी । परिणति" , " दूसरे कगार का निषेध " आदि कहानियाँ उन्हीं दिनों के सृजन का परिणाम है । सन् 1966 में पहली बच्ची हुई और चार महीनों के पश्चात् उसका देहान्त हो गया । उन्हीं पीड़ापूर्ण अनुभवों पर "किरचें " , " दूसरी आया" और साथ सहा गया दुःख " इत्यादि रचनाएं लिखी गयीं । " द कालेज " भी उन्हीं दिनों की उपज है । प्रेम , नौकरी , विवाह, संतान का जन्म , संतान की मृत्यु आदि अनुभवों के कारण दृष्टि में एक प्रकार की प्रौढ़ता आतहि गयी । "दुःख मनुष्य को मांजता है " इस सत्य की प्रतीति हुई । इधर व्यंग्यात्मक दृष्टि का भी कुछ विकास हो चला था । 1967 की गर्मी की छुट्टियों में लेखक-दम्पति ने अपना मकान बदल लिया था और वे एस-362 , ग्रेटर कैलाश -1 , नई दिल्ली-48 में आ गये थे और तभी से आज तक वहीं है (आज तक अर्थात् जनवरी 1982 तक) , क्योंकि "बकलम खुद " के नीचे यही समय दिया गया है । इधर सुना है लेखक ने नई दिल्ली के प्रीतमपुरा में अपना खुद का मकान ले लिया है । यह कितना विचित्र संयोग है कि 30 नवम्बर को पहली बेटी संचिता का देहान्त " होली फैमिली " अस्पताल में हुआ था और ठीक उसके एक वर्ष बाद , उसी दिन , लेखक मधुरिमाजी को लेकर उसी अस्पताल में आये । फलतः मन बहुत डरा हुआ था । रात को एक बजे के लगभग उन्होंने जुड़वां बच्चों को जन्म दिया — एक लड़का और एक लड़की ।

दोनों बच्चे स्वस्थ और मधुरिमाजी भी स्वस्थ और प्रसन्न थीं । पांच दिन बड़े उत्साह में बीते, किन्तु छठे दिन दोनों को पीलिया हो गया । बच्चों को अस्पताल में छोड़कर मधुरिमाजी घर पर आ गयीं, पर घर पर मन कैसे लगता । पति-पत्नी दोनों अस्पताल में ही टंगे रहते । रोज दवाइयाँ बदली जाती थीं, डाक्टर रोज तसल्ली देते, पर कोई लाभ नहीं हुआ । उन दिनों में लेखक-दम्पति ने ज्योतिषियों और तांत्रिकों के भी खूब चक्कर लगाये । 24 दिसम्बर, 1967 को दोनों बच्चों को अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में ले जाया गया, जहां लड़की का उसी शाम देहान्त हो गया । चालीस दिन का होकर लड़का पहली बार घर आया । जुड़वां बच्चों के नाम लेखक ने सुरभि और सौरभ सोचे थे, पर सुरभि तो रही नहीं, अतः लड़के का नाम कार्तिकेय रखा गया । वह साल भर काफी बीमार रहा । और ये दिन लेखक-दम्पति के लिए काफ़ी कष्टप्रद रहे । जितने लोग उतनी बातें, उतनी सलाहें और मां-बाप का दिल । क्या-क्या न किया गया ? एलोपैथी, होमियोपैथी, डाक्टर, ज्योतिषी, तांत्रिक, रामचरितमानस का नित्य पाठ -- ये सबकुछ चलता रहा । ज्यादातर ऐसा माना जाता है और देखा भी गया है कि लड़का-लड़की में कोई मरता है तो वह लड़का ही है । लड़की प्रायः जी जाती है, पर कोहली जी के साथ इसका विपरीत हुआ । लड़कियां नहीं रहीं । पर लड़का बच गया । दोनों कालेज में लेक्चरर होने से आर्थिक दृष्टि से उन्हें कोई परेशानी नहीं थी । शैशवकालीन संघर्ष गुजर चुका था । 31 जनवरी सन् 1975 ई. को लेखक के यहां दूसरे पुत्र अगस्त्य का जन्म हुआ । इस संदर्भ में वह लिखते हैं -- " यह पहला बच्चा था जिसका जन्म और पालन-पोषण हमारे लिए बोझ और परेशानी नहीं बना । एक स्वस्थ बच्चे को पालने का सुख हमें उसीने दिया । इस समय (11 जनवरी, 1982) वह सात वर्षों का होने वाला है, कार्तिकेय 14 वर्षों का हो गया है और हम चारों जीवन के सामान्य संघर्षों में लगे हुए हैं । " [36] पुस्तक में सपरिवार उड़ीसा-भ्रमण आदि के चित्र हैं जिससे उनके प्रसन्न

दाम्पत्य-जीवन का सहज ही अनुमान किया जा सकता है ।

डा. नरेन्द्र कोहली का कृतित्व :

डा. नरेन्द्र कोहली हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ पौराणिक उपन्यासकार हैं । यद्यपि उनकी एक पहचान व्यंग्य-लेखक की भी है, तथापि सम्प्रति लेखक एक पौराणिक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित हैं । प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा उनकी जमशेदपुर में हुई । बी.ए. तक की शिक्षा भी वहीं हुई । पूर्ववर्ती पृष्ठों में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रारंभ से ही, अर्थात् शैशवकाल से ही उनमें साहित्य के संस्कार व प्रवृत्ति थी । यहाँ हम उनके कृतित्व पर क्रमशः विचार करेंगे । इसे हम उनके जीवन का तृतीय मोड़ कह सकते हैं ।

डा. नरेन्द्र कोहली का प्रारंभिक लेखन :

प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा के दरमियान स्कूल की हस्तलिखित पत्रिकाओं में लेखक की कविताएं व कहानियां प्रकाशित होती थीं । लेखक जब आठवीं कक्षा में थे तब उनकी एक उर्दू कहानी — " हिन्दोस्तां : जनता निशां " — स्कूल की मुद्रित पत्रिका में प्रकाशित हुई । इसे हम लेखक की प्रथम मुद्रित रचना कह सकते हैं । [37] लेखक जब कालेज में आते हैं तो उन्हें और अच्छा साहित्यिक वातावरण मिलता है । लेखक ने जब आई.ए. (इण्टर आर्ट्स) की परीक्षा दी थी, उन दिनों में "सरिता" के " नये अंकुर स्तम्भ " में लेखक की एक कहानी " पानी का जग, गिलास और केतली " प्रकाशित हुई थी । सन् 1960 की "कहानी" पत्रिका में उनकी कहानी " दो हाथ " छपी, जिसे लेखक अपनी पहली प्रकाशित रचना मानते हैं । [38] लेखक के दिल्ली रामजस कालेज में आ जाने के उपरान्त मोहन राकेश द्वारा सम्पादित "सारिका" में " होनेवाली पत्नी " कहानी प्रकाशित हुई । लेखक का जन्म 6 जनवरी 1940 में हुआ था और सन् 1960 में "कहानी" पत्रिका में उनकी प्रथम कहानी प्रकाशित हुई थी, इस दृष्टि से सम्प्रति (2006 में)

उनका लेखन-काल गालिबन पैंतालीस-छियालीस साल का होने आया है ।

सन् 1966 में उनका एम.ए. का लघु शोध-प्रबंध — " प्रेमचंद के सिद्धान्त " — प्रकाशित हुआ । 1969 में उनका पहला कहानी-संग्रह " परिणति" प्रकाशित हुआ जो प्रेम व दाम्पत्य-जीवन के उनके कच्चे-पक्के अनुभवों पर आधारित है । इनमें संगृहीत कहानियां प्रायः उनके विवाह के बाद के अनुभवों पर आधारित हैं और उनका रचना-काल लगभग 1965-67 का है । "दूसरे कगार का निषेध" कहानी भी उन्हीं दिनों की हैं । पहले बताया जा चुका है कि सन् 1965 से 1967 तक का समय लेखक-दम्पति के लिए शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त कष्टप्रद रहा है । इन परेशानियों में शोध-कार्य तो प्रायः छूट-सा गया था, पर व्यंग्य-शैली का विकास हुआ । इनकी अधिकांश व्यंग्य रचनाएं इन्हीं दिनों की उपज हैं । [39] इनकी व्यंग्यात्मक रचनाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं : एक और लाल तिकोन, पाँच एब्सर्ड उपन्यास, आश्रितों का विद्रोह, जगाने का अपराध, आधुनिक लड़की की पीड़ा, त्रासदियां, परेशानियां तथा समग्र व्यंग्य । [40]

"परिणति" कहानी -संग्रह के पश्चात् "एक लाल तिकोन " नेशनल पब्लिशिंग हाउस से सन् 1970 में प्रकाशित हुई । सन् 1972 में उनकी व्यंग्य रचना " पाँच एब्सर्ड उपन्यास " प्रकाशित हुई और एक चमत्कार यह हुआ कि यह व्यंग्य उपन्यास "हिमाचल विश्व-विद्यालय " के बी.ए. के पाठ्यक्रम में लग गया । ऐसा सौभाग्य बहुत कम लेखकों को प्राप्त होता है । यश की दृष्टि से तो यह महत्त्वपूर्ण है ही, "अर्थ" की दृष्टि से भी उसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि किसी कृति का किसी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में लगने का मतलब यह है कि उसकी सैकड़ों प्रतियां हाथोंहाथ बिक सकती हैं । अतः "रायल्टी" के रूप में लेखक को काफी कमाई हो सकती है । और यह आमदनी तो निश्चित रूप से ऊपरी तौर (एक्स्ट्रा) मानी

जायेगी , क्योंकि दोनों पति-पत्नी कालेज में प्राध्यापक होने के कारण एक अच्छी आमदनी तो उनको हो ही रही थी , जिससे मध्यवर्ग से उच्च-मध्यवर्ग की ओर वे अग्रसरित हो रहे थे । इस प्रकार लेखन के "यशसे " और " अर्थकृते " वाले प्रयोजन तो यहाँ सार्थक हो रहे थे ।

लिखने की तो अपनी एक समस्या होती है , लेकिन हिन्दी में , प्रकाशन की भी अपनी एक समस्या है । लेखक को इसमें अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ा , अन्यथा अहिन्दी क्षेत्र के लोगों को तो इसके लिए भी काफी पापड़ बेलने पड़ते हैं । लेखक क ो भी अपने प्रारंभिक प्रकाशन में अपने पैसे लगाने पड़े थे । यथा —" उसकी § प्रेमचंद के साहित्य सिद्धान्त § रायल्टी के रूप में प्रकाशक ने मुझे सौ प्रतियाँ देकर छुट्टी पा ली । ... इधर कालेज में कहानियाँ पढ़ाते हुए उनकी समीक्षाएं अपने ढंग से लिखी थीं । इस बार अपना धन लगाकर "उमेश प्रकाशन " से "कुछ प्रसिद्ध कहानियों के विषय में " के नाम से उन्हें 1967 ई. में प्रकाशित करवाया । प्रकाशक ने मेरा धन तो लौटा दिया पर बाद में सदा यही कहा कि पुस्तक बिकती ही नहीं है । 1969 में मनहर चौहान मुझे नेशनल पब्लिशिंग हाउस ले गये । वहाँ भी अपना पैसा लगाया और पहला कहानी-संग्रह "परिणति" प्रकाशित हुआ । अगली पुस्तक "एक और लाल तिकोन" नेशनल वालों ने स्वयं ही प्रकाशित की , सन् 1970 में । ... "पुनरारंभ" §उपन्यास § पूरा कर उपन्यास-लेखन का जो प्रशिक्षण या अभ्यास मैंने पाया था , उससे उत्साहित होकर मैंने "आसंक" लिखा जो 17 जुलाई 1971 को पूरा हुआ । यह समकालीन यथार्थवादी लेखन की ओर मेरा नया मोड़ था । "धर्मयुग" और "साप्ताहिक हिन्दुस्तान " से अस्वीकृत होने के पश्चात् संयोग से उसकी पांडुलिपि नेशनल पब्लिशिंग हाउस से भी लौट आयी । प्रकाशकीय आतंक इतना अधिक था कि मैंने "राजपाल एण्ड सन्स " को पत्र लिखकर पूछा कि क्या मैं अपनी पांडुलिपि उनको भेज सकता हूं । उनका उत्तर आया कि मैं अपनी पांडुलिपि विचारार्थ भेज दूं । पांडुलिपि देने मैं स्वयं गया था और

उन्होंने दो बार स्पष्ट किया था कि वे पांडुलिपि विचारार्थ ले रहे हैं। किन्तु कुछ दिनों में डाक से स्वीकृति आ गई। अनेक मित्रों ने आपसी तौर से पूछा कि मैंने "राजपाल एण्ड सन्स" से छपने के लिए कौन-सा तिकड़म भिड़ाया है। यद्यपि उनके संपादक महोदय ने अपना अधिकार जताने के लिए दो एक बार अभद्रता भी दिखाई, पर "आतंक" मेरी अपेक्षा से जल्दी प्रकाशित हो गया।" 41

लेखक "आतंक" को अपना पहला महत्वपूर्ण उपन्यास मानते हैं थे, इसलिए "कृति" नामक एक संस्था बनाकर उस पर एक गोष्ठी भी करवा डाली। "पांच एब्सर्ड उपन्यास" के पश्चात् "आतंक" की ही सर्वाधिक चर्चा हुई। किन्तु उसके संदर्भ में अनेक लोगों ने यह आपत्ति जताई कि वह एक अत्यन्त निराशावादी उपन्यास है। लेकिन लेखक मानते हैं कि उसका बुद्धिवादी नायक डा. कपिल और कुछ भी नहीं कर सकता था। यहाँ डा. कपिल एक प्रकार से स्वयं लेखक का ही "स्पोक-मैन" है। बुद्धिवादी की असमर्थता के विषय में लेखक जब भी सोचते हैं उनके सामने विश्वामित्र की छवि उभर आती है। "राम-कथा" को बुनने की प्रक्रिया कदाचित् यहीं से आरंभित हो गई थी। इस बीच में "साथ सहा गया दुख" और "आश्रितों का विद्रोह" उपन्यास भी लेखक पूरे कर चुके×××××× थे। उनकी पांडुलिपियाँ क्रमशः 13 अक्तूबर 1971 और 26 दिसम्बर 1971 ई. को पूरी हो चुकी थी। और तभी 1971 ई. में बांगलादेश का युद्ध छिड़ गया। 1948 ई. में पाकिस्तान के साथ जो युद्ध हुआ था उसकी कोई स्मृति लेखक के मन में नहीं थी, क्योंकि तब वह निहायत छोटे थे। उसके बाद 1962 में चीन के साथ जो युद्ध हुआ, उसने सबको हिला दिया था। उस समय लेखक एम.ए. में पढ़ रहे थे। 1965 का युद्ध ठीक लेखक के विवाह से पूर्व हुआ था। पर उस युद्ध में हवाई आक्रमण का सायरन सुनकर छिपने के बजाय लोग-बाग बाहर निकल आते थे। इस प्रकार पाकिस्तानी हवाबाज हास्यास्पद से बन गए थे। वह वातावरण ऐसी निर्भयता का था कि विवाह से दस-बारह दिन पहले तक लेखक को इस बात का पता नहीं था कि

विवाह रात में हो पाएगा या फिर ब्लेक आउट के कारण दिन के समय होगा । किसीको न युद्ध का भय था , न बमबारी का , न ब्लेक आउट का । यह समय इ लालबहादुर शास्त्रीजी का था ।

1971 ई. का युद्ध यद्यपि डरा नहीं पाया , लेकिन उसके प्रभाव दीर्घव्यापी रहे । तत्कालीन प्रभावों से प्रेरित होकर लेखक ने एक उपन्यास लिखना शुरू किया । यह उपन्यास समकालीन इतिहास पर आधारित था जिसे लेखक पूरा नहीं कर पाये । पाकिस्तानी सेनाओं द्वारा बुद्धिजीवियों की हत्याओं के प्रसंग लेखक के मन में कहीं बहुत गहरे धँस-से गए थे । सूचनाएं संवेदनाएं बन गयीं । "रामकथा" में राक्षसों द्वारा ऋषियों को मारने और खाने के प्रसंग जीवंत हो उठे । "आतंक" के सन्दर्भ में जो विश्वामित्र एक बार जागकर सो गया था , लेखक के मन में वह पुनः जाग उठा । इतना ही नहीं वह सक्रिय भी हो उठा । लेखक के अन्तर्मन में "रामकथा " अधिकाधिक मुखर होती गयी और परिणामतः "दीक्षा " उपन्यास का सृजन हुआ । मजेदार बात यह है कि "दीक्षा" धर्मयुग , साप्ताहिक हिन्दुस्तान , सारिका इत्यादि पत्रिकाओं से ही नहीं लौटायी गयी ; राजकमल प्रकाशन, राजपाल एण्ड सन्स तथा नेशनल पब्लिशिंग हाउस जैसी प्रकाशन-संस्थाओं द्वारा भी लौटायी गई । अंततः थक-हारकर लेखक ने उसे "पराग प्रकाशन " से प्रकाशित करवाया । यह उपन्यास 1975 ई. के दिसम्बर के अंत में प्रकाशित हुआ । उसकी कुछ समीक्षाएं छप जाने पर फिर कोई परेशानी नहीं रही । उसके आगे के उपन्यासों को प्रकाशित करने के लिए कई प्रकाशक सामने आये । किन्तु "अवसर" , "संघर्ष की ओर " और "युद्ध " 1979 ई. तक "पराग" से ही प्रकाशित हुए । [42]

डा. नरेन्द्र कोहली के लेखन का प्रौढ़ काल :

"रामकथा" की उक्त उपन्यास-माला से लेखक हिन्दी जगत में पूर्णतया स्थापित हो गये । "दीक्षा" अनेक विश्वविद्यालयों में

पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत लगायी गयी । बड़ौदा विश्वविद्यालय में भी यह उपन्यास पाठ्यक्रम में लगा था । इसके कारण लेखक को आर्थिक दृष्टि से तो लाभ हुआ ही , एक दूसरी उनकी चिन्ता भी खत्म हो गयी । ग्रन्थ-प्रकाशन की उनकी समस्या सरल हो गयी । अब प्रकाशक सामने से मांग करने लगे । "रामकथा " के चारों उपन्यास बाद में "अभ्युदय भाग-1 " और " अभ्युदय भाग-2 " में अभिरूचि प्रकाशन , दिल्ली से प्रकाशित हुए । खण्ड-1 में "दीक्षा" , " अवसर" और " संघर्ष की ओर " संकलित है ; तो खण्ड-2 में "युद्ध" उपन्यास दो भागों में है । यह उपन्यास थोड़ा लम्बा हो गया है , वाल्मीकि-रामायण में भी "युद्धकांड" सबसे बड़ा है । कहा भी गया है — " युद्धस्य कथाः रम्या । "

"दीक्षा" के बाद लेखक ने "शंबूक की हत्या" लिखा , किन्तु उसके प्रकाशन के पूर्व आपातकाल की घोषणा हो गई । इससे पत्रिकाओं और प्रकाशकों के रूख बदल गये । परिणामतः इस नाटक से "मंत्री" शब्द को हटाकर अनेक स्थानों पर "नेता" शब्द करना पड़ा । किन्तु इससे पूर्व " अतिमर्श " में यह नाटक अपने मूल रूप में प्रकाशित हो चुका था । दिल्ली आगमन के उपरान्त और अध्यापन के व्यवसाय में लगने के बाद लेखक ने अपने तईं "लेखक मंडल " की स्थापना कर रखी थी । इसी लेखक मंडल द्वारा "अतिमर्श " त्रैमासिक पत्रिका को निकाला जाता था । 1973 ई. में उसका पहला अंक निकला था । पांच अंकों के बाद आर्थिक कारणों से उसे बन्द करना पड़ा । वैसे भी बिना किसी व्यावसायिक अनुष्ठान से जुड़े विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका को निकालना हमारे देश में लोहे के चने चबाने के समान है । आपातकाल के पश्चात् चुनाव हुए और संयोग से कुछ ऐसे लोग महत्त्व-पूर्ण हो उठे , जो लेखक के नाम व चेहरे दोनों से परिचित थे । इन दिनों के बारे में लेखक बताते हैं --" ऐसे में कुछ लोगों के लिए मैं भी महत्त्वपूर्ण हो उठा -- यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मुझे कोई लाभ नहीं हुआ । इस घटना से मेरे मन में सुदामा की पौराणिक कथा जाग

उठी थी । जहाँ कृष्ण से उसका सम्बन्ध उजागर हो जाने से सुदामा का संसार बदल गया था । यही कथा मैंने "अभिज्ञान" में ली है । यह उपन्यास 3 जुलाई 1981 को पूरा हुआ और दिसम्बर 1981 के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हुआ ।"[43]

लेखक ने जब "अभिज्ञान" लिखना आरंभ किया तब उनके भीतर कुछ और ही उथल-पुथल मची हुई थी । उन्हीं दिनों भारत के प्रधानमंत्री के रूप में अनेक परिवर्तन हुए । इन्दिराजी के बाद मुरारजी देसाई आये और उनके बाद चौधरी चरणसिंह और फिर इन्दिरा गांधी । प्रधानमंत्रियों के बदलते ही कxxx कई बार समाज के अतिसाधारण लोग महत्त्वपूर्ण हो उठते थे और महत्त्वपूर्ण लोग महत्त्वशून्य हो जाते थे और लेखक के सामने बार-बार सुदामा का चित्र उभरता था । वही सुदामा थे और वही कृष्ण , किन्तु जब सुदामा के साथ अपनी मैत्री को कृष्ण ने सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लिया तो सुदामा का महत्त्व , उसका अभिज्ञान , ही कुछ और हो गया । लेखक "अभिज्ञान" में जब सुदामा की कथा लिख रहे थे , तभी कृष्ण के विराट रूप का उनको आभास हुआ । तब बेचारे सुदामा कहाँ टिकते ? उपन्यास में भी कृष्ण और उनका कर्म सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हो गया । " अब मुझे लगता है कि "अभिज्ञान" में कथा चाहे सुदामा की हो किन्तु उसका मेरूदण्ड xxxxx " कर्म-सिद्धान्त " ही है ।" 44

"अभिज्ञान" की कथा को लेखक ने तीन भागों में विभक्त किया है । प्रथम खण्ड में सुदामा का जीवन-चरित्र , उनके परिवार और उसके माध्यम से समाज पर एक टिप्पणी है , तो दूसरे xxx खण्ड में सुदामा का श्रीकृष्ण के यहाँ जाना , उनके साथ किया गया व्यवहार तथा उसकी प्रतिक्रिया को चित्रित किया गया है । तीसरे और अंतिम खण्ड में श्रीकृष्ण का "कर्म-सिद्धान्त " है , जिसे डा. कोहली ने साधारण पाठक के अनुभव क्षेत्र तक लाने की भरसक चेष्टा की है । इस प्रकार "अभिज्ञान " एक चिंतन-प्रधान उपन्यास हो जाता है ।

"अभिज्ञान" के संदर्भ में डा. कौशल किशोर लिखते हैं — "सुदामा और श्रीकृष्ण की पुराणकथा को दोहराना उपन्यासकार का लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य मात्र है। उनकी अनन्य मैत्री एवं अन्य पौराणिक प्रसंगों का वर्णन इस उपन्यास के स्थूल उपादान हैं, जबकि वास्तविक सूक्ष्म उपकरण तो वे हैं, जिसके "मिथकीय सत्य" भीतर से आधुनिक भारत की कहानी को उभारते हैं। जिसमें उपन्यासकार ने भारत की सदियों पुरानी दास्य-मनोवृत्ति, राजनीतिक उठक-पटक, निजी स्वार्थपरताएं और क्षुद्रताएं, बुद्धिजीवियों का मुखौटाधारी चेहरा और दोहरे मानदण्ड युक्त जिंदगी, राजनीतिकी सर्वत्र वर्चस्वता एवं व्यापक मूल्य-क्षरण आदि का समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण किया है।" 45

"तोड़ो, कारा तोड़ो" स्वामी विवेकानंद के जीवन-कवन पर आधारित उपन्यास है। स्वामीजी का समय अभी सौ वर्ष पुराना है, अतः उसको ऐतिहासिक उपन्यास माना जाएगा। उपन्यास में स्वामीजी की जीवनी को आधार बनाया गया है। " The Life of Swami Vivekanand " का भी लेखक ने जगह-जगह उपयोग किया है। अतः उसे जीवनीमूलक उपन्यास भी कहा जा सकता है। वस्तुतः जीवनी-मूलक उपन्यास भी ऐतिहासिक उपन्यास ही कहलाता है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास की परंपरा में जब प्रस्तुत उपन्यास का विवेचन करते हैं तो यह अपने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा से पर्याप्त भिन्न दिखाई पड़ता है। इसमें अतीतकालीन पात्र, वातावरण और घटनाओं के ज्ञात तथ्यों को कल्पना से मांसल बनाकर रखने का प्रयत्न नहीं हुआ है। रोमांस तथा रहस्य-सृष्टि को प्राधान्य नहीं मिला है। इसमें पौराणिक कथाओं का भी समावेश हुआ है। पात्रों के चिंतन-मनन पर पौराणिक पात्रों का प्रभाव है। स्वामी विवेकानंद एक आध्यात्मिक साधक हैं। अतः उसमें पुराण, वेद, उपनिषद आदि का आना स्वाभाविक ही है। उदाहरणतया एक स्थान पर जनक अष्टावक्र को पूछते हैं —" ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? मुक्ति की उपलब्धि कैसे हो ? मोक्ष किस प्रकार संभव है ?

हे प्रभु ! मुझे बताएं ।" अष्टावक्र ने उत्तर दिया - " पुत्र ! यदि तुम्हें मुक्ति चाहिए तो इन्द्रियों के भोग को विष के समान त्याग दो और सरलता , नम्रता , क्षमा , संतोष तथा सत्य को अमृत के समान ग्रहण करो । " " 46

इस प्रकार साधारणतया ऐतिहासिक उपन्यास में पुराणों का चिंतन नहीं आता । अतः प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में प्रायः एक प्रश्न जो सामने आता है , वह यह है कि "तोड़ो , कारा तोड़ो " एतिहासिक उपन्यास है या पौराणिक ? क्योंकि यहां पौराणिक युग के पात्रों , वेद-उपनिषद आदि की कथाओं का चित्रण बहुतायत से हुआ है । मध्यम मार्ग अपनाते हुए हम उसे "ऐतिहासिक-पौराणिक" उपन्यास कह सकते हैं ।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक को ज्ञात ~~सब~~ तथ्यों को कल्पना से प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता नहीं है , क्योंकि स्वामीजी का चरित्र मात्र सौ वर्ष पुराना है और उनकी तमाम बातें इतिहास में अंकित हैं । उनका शिष्य संगठन भी विद्यमान है । वे ऐसी कोई कल्पना या चिंतन नहीं कर सकते जो स्वाजी ने न कहा हो । " ऐसे में उन्हें अपने नायक के व्यक्तित्व और चिंतन से ~~xxxx~~× तादात्म्य स्थापित करने के लिए निश्चय ही बहुत बड़ी चुनौती से जूझना पड़ा है । " 47

ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित होता है , तथापि वातावरण की सृष्टि के लिए लेखक उसमें तत्कालीन समाज के कुछ ऐसे पात्रों की सृष्टि करता है जिनका उल्लेख इतिहास में नहीं होता है । कन्हैयालाल मुन्शी ने अपने " गुजरात नो नाथ " उपन्यास में काक और शशि नामक नितान्त काल्पनिक पात्रों की सृष्टि की है । वृन्दावनलाल वर्मा ने भी अपने " मृगनयनी " उपन्यास में ऐतिहासिक पात्रों के अतिरिक्त लाखी और अटल के पात्रों की सृष्टि की है । परन्तु डा. नरेन्द्र कोहली के साथ दिक्कत यह है कि उन्होंने जिस ऐतिहासिक चरित्र को लिया है वह निकट अतीत का अतिप्रचलित चरित्र है , दूसरे "धर्म" या " सांप्रदायिक" संगठन से उसका जुड़ाव

होने के कारण कोई भी काल्पनिक बात लिखने से "बवाल" खड़ा हो सकता है । डबल्यु. एच. वाल्स के मतानुसार " हर इतिहासकार अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से अतीत को देखता है । इसलिए कल्पना की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । "48 तो यह बात तो इतिहास के संदर्भ में है और वाल्स महोदय वहां भी कल्पना की गुंजाइश देखते हैं , तो फिर यह तो उपन्यास है । लेकिन उपन्यासकार यह छूट नहीं ले पाया है , क्योंकि स्वामीजी को अभी ज्यादा समय नहीं हुआ है । यह एक प्रकार से समसामयिक जीवन का ही इतिहास है । इस प्रकार " कल्पना को उपन्यास में स्थान न देते हुए भी लेखक ने स्वामी विवेकानंद की जीवनी से प्राप्त ज्ञात तथ्यों तथा जीवन और धर्म की गूढ़ अनुभूतियों को जिस मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है , वह अविस्मरणीय है । " 49

लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में स्वामीजी के चिंतन के माध्यम से हमारे समसामयिक जीवन के अनेक पक्षों पर विचार किया है कि अज्ञान-वश कुप्रथाओं , अंधविश्वासों , रूढ़िवादिता तथा दरिद्रता की स्थिति में पहुंचे हुए भारतीय अपनी सभ्यता , संस्कृति और भाषा को अपनाने में हीनता का अनुभव करके , गर्वपूर्वक अंग्रेजी भाषा और सभ्यता अपना रहे हैं और द्वितीय श्रेणी का निकृष्ट जीवन जीने पर विवश हो रहे हैं । भारतीयों को पश्चिमी चिंतन के छल से मुक्त करने के लिए नरेन्द्र (स्वामीजी का मूल नाम) उन्हें उनके वास्तविक स्वरूप से परि-चित कराता है । यथा --" जिन बच्चों को आरंभ से ही अंग्रेजी पढ़ाई दी जायेगी , वे फिर अपनी भाषा का ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे । और फिर जिस समाज की भाषा से हम अपरिचित रहते हैं , उस समाज की संस्कृति और समस्याओं से भी हम अपरिचित रह जाते हैं । हम न उसके साहित्य को समझते हैं , न उसकी कलाओं को , और न उसके धर्म को । आरंभ से ही अंग्रेजी पढ़ाकर आप इस देश में एक ऐसा नया वर्ग उत्पन्न करेंगे , जिसे न अपने देश का परिचय होगा और न इससे सहानुभूति । देश के भीतर ही देश के शत्रु उत्पन्न

करना चाहते हैं आप ?" [50]

प्रस्तुत उपन्यास में पात्रों की मनःस्थिति के एक-एक भाव का लेखक ने इस कलात्मकता के साथ वर्णन किया है कि पाठक को ऐसी प्रतीति होती हैं कि मानो लेखक स्वयं पात्रों के साथ जिया हो। रामकृष्ण परमहंस के संदर्भ में नरेन्द्र के मन में जो शंका-कुशंकाएं पैदा होती हैं, उसका यह चित्र देखिए —" सहसा वह सजग हुआ। उसके मन में बैठा कोई प्रकाश-बिन्दु उसे लगातार धिक्कार रहा था ... वह कैसा परमहंस सन्यासी हैं, जो जाति-विचार करता है और भंगी को हीन मानकर उसकी चिलम नहीं पीता है ? ... वह कैसा वेदान्ती है, जो प्रत्येक जीव में छिपे ब्रह्म को नहीं पहचान पाता। किसी जीव में वह ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करता है और किसीमें नहीं ... यह कैसा वेदान्त है ?" [51]

इस उपन्यास का चिंतन-पक्ष अधिक प्रबल है। स्वामीजी के चिंतन-मनन से उस समय की, और किसी हद तक इस समय की भी सामाजिक-धार्मिक स्थितियां, हमारे सामने आयी हैं। हमारे देश पर सामाजिक प्रहार करके अंग्रेजों ने इस देश को बहुत निकृष्ट और घृणास्पद स्थिति में पहुंचा दिया है। सामाजिक अभद्रता सीमा पार कर चुकी है। अंग्रेजों के मदिरा-पान के व्यसन के कारण कितने लोग मदिरा के अभ्यस्त हो चुके हैं। रविवार या किसी छुट्टी वाले दिन सड़क किनारे नाले में पड़े हुए शराबी ... एक सामान्य-सा दृश्य था। सिमुलिया तो जैसे पियक्कड़ों की बस्ती ही थी। वहां रहने वाले आठों बसु परिवार गर्वपूर्वक सार्वजनिक रूप से एक ही बड़े प्याले में पीते थे। [52]

इस व्यसन के कारण अनेक हिन्दू युवक ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। अंग्रेजी संस्कृति भारतीय संस्कृति को ग्रसित करती जा रही है। अंग्रेजों के अभिवादन अपनाने के गर्व में किसीको झुककर प्रणाम करने में लोग लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। अपने इस अभिवादन को अपनाने में अधिकांश भारतीयों का दंभ आड़े आने लगा है, जिससे

उनका अहंकार विगलित होता है । इन सब बातों से आत्मनिष्ठा पर भी प्रभाव पड़ता है और शनैः शनैः वह कम होने लगती है । सामाजिक और धार्मिक उत्सवों तथा समारोहों को लोग अंधविश्वास मानकर छोड़ने लगे हैं और काली पूजा ह , सरस्वती तथा कार्तिकेय की पूजा अब भले घर के लोग नहीं करना भि चाहते । लोकनाट्य और लोकसंगीत भी इस नयी पीढ़ी से दूर होता जा रहा है । इन सब बातों पर नरेन्द्र चिन्ता जता रहे हैं । [53]

चारों ओर फैले हुए ईसाई प्रचारक हिन्दुओं के हर कार्य को अन्धविश्वास बताकर उन्हीं बातों को तर्कपूर्ण और विवेकसंगत कहते हैं जो वे स्वयं करते हैं । इस प्रकार हिन्दू विश्वासों का वे निर्विरोध तथा ~~निर्विघ्न~~x निर्विघ्न अपमान कर रहे हैं , इतना ही नहीं उन्हें और विकृत कर रहे हैं । वे प्रचार करते हैं कि गंगा-स्नान से पाप होता है और सरसों के तेल की मालिश कर ~~स्नान~~x स्नान करने से पाप-कृत्य होता है । दाढ़ी बनाना अंधविश्वास है । इसके परिणाम-स्वरूप कुछ सरल प्रकृति के लोगों ने तो दाढ़ी बनाना ही छोड़ दिया था । [54]

समाज की मूर्खतापूर्ण रूढ़ियों और कट्टरताओं से भी नरेन्द्र चिंतित है । आठ या नौ वर्ष की कन्याओं को पढ़ाने के बदले , लोग उनका विवाह कर देते हैं । वे लोग मानते हैं कि पढ़-लिखकर लड़की यदि प्रबुद्ध हो ~~जायेंगी~~x~~जाये~~x जायेंगी तो माता-पिता , सास-ससुर तथा पति की इच्छाओं का विरोध करेंगी । उनकी अनुचित बातों पर तर्क-वितर्क करेंगी । सोलह-सत्रह वर्ष का होते-होते लड़के का ब्याह कर दिया जाता था और ऐसा न करने पर लोगों को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था । इस प्रकार सामाजिक प्रथाओं के नाम पर न्यस्त हित वाले लोगों का पूरा एक शोषण चक्र चलता था । [55] समाज में व्याप्त ऊँच-नीच के विचार और छुआछूत की भावना को देखकर नरेन्द्र को बहुत कष्ट होता है और वह सोचता है कि " यह कैसा धर्म है जो अपने ईश्वर के बनाए हुए दूसरे मनुष्य को हीन बताए और उससे

घृणा करे ।" 56

उन्हीं दिनों बंगाल में ब्रह्मसमाज समाज-सुधार के कार्य कर रहा था । नरेन्द्र ने देखा कि ब्रह्मसमाज समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न कर रहा है । केशवचन्द्र सेन पादरियों की भांति सड़कों पर, चौराहों पर, सार्वजनिक स्थानों पर भाषण करके सामान्य लोगों को धर्म का स्वरूप समझा रहे हैं । बुराइयों को दूर करने का उपदेश दे रहे हैं । धर्म की रक्षा की बातें कर रहे हैं । सतीप्रथा का मूल कारण वे बाल-विवाह को बताते हुए दोनों के निषेध का परामर्श दे रहे हैं । वे स्त्रियों की शिक्षा पर भी बल दे रहे हैं । वे मांस खाने, मदिरा पीने और तंबाकू के सेवन पर ब्रह्मसमाज में प्रतिबंध लगाते हैं । ब्रह्मसमाज के नेता न केवल इन्हें सामाजिक बुराइयां मानते थे, वरन् उनका यह भी विचार था कि इन व्यसनों के कारण भी अनेक हिन्दू युवक ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे । अतः ब्रह्मसमाज से आकृष्ट होकर नरेन्द्र भी ब्रह्मसमाज में सम्मिलित हो जाते हैं । उसके नियमों का पालन करने लगते हैं और निरामिष भोजन भी करने लगते हैं, किन्तु शीघ्र ही उससे भी उनका मोहभंग होने लगता है और ब्रह्मसमाज भी उनको एक सामाजिक प्रपंच लगने लगता है । 57

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने स्वामी विवेकानंद के जीवन-कवन का आकलन तो किया ही है, पर साथ ही बंगाल का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन भी हमारे सामने प्रत्यक्ष होने लगता है । उपन्यास को उन्होंने दो खण्डों में विभक्त किया है — प्रथम खण्ड है निर्माण और दूसरा खण्ड है साधना । उपन्यास में उन्होंने नरेन्द्र, ठाकुर अर्थात् स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विश्वनाथ, मां भुवनेश्वरी, राम, सुरेन्द्र मित्र, ठाकुर के अन्य शिष्य, प्रमदादास, पवहारी बाबा, केशवसेन आदि पात्रों के माध्यम से स्वामी विवेकानंद के जीवन का चित्रण किया है और इस प्रकार निकट अतीत के इतिहास को हमारे सम्मुख रखते हुए धर्म, अध्यात्म, दर्शन आदि की

चर्चा भी इसमें की गई है, फलतः उसमें वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि की कथाएं भी स्थान-स्थान पर आयी हैं।

डा. नरेन्द्र कोहली के उपन्यास :

डा. नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर आधारित उपन्यास तथा महाभारत की कथा पर आधारित उपन्यास तो हमारे शोध-प्रबंध का आलोच्य विषय है, अतः उन पर परवर्ती अध्यायों में विस्तार से विचार होने ही वाला है। इसदृष्टि से यहां उनके अन्य उपन्यासों की चर्चा की जायेगी।

रामकथा तथा महाभारत पर आधारित उनके उपन्यासों के अतिरिक्त जो दूसरे उपन्यास हैं उनमें "पुनरारंभ", "साथ सहा गया दुःख", "आश्रितों का विद्रोह", "आतंक", "जंगल की कहानी", "अभिज्ञान", "आत्मदान", "प्रीतिकथा", "मेरा अपना संसार", "तोड़ो, कारा तोड़ो" आदि की गणना कर सकते हैं। "पुनरारंभ" का उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों में हो चुका है। "साथ सहा गया दुःख" लेखक के अपने पारिवारिक - वैवाहिक जीवन पर आधारित है। उपन्यास में कुल ढाई पात्र हैं — पति-पत्नी और नवजात बच्ची। फिर भी यह उपन्यास बड़ा रोचक बन पड़ा है। जबकि उसके अरोचक होने की पूरी-पूरी संभावना थी। उपन्यास के नायक-नायिका, अमित और सुमन पति-पत्नी का जीवन बिताते प्रेमी-प्रेमिका हैं। पति सजग है कि विवाह नामक संस्था के दबाव से कहीं "प्रेमिका" न खो जाय और पत्नी अपने प्रेमी के लिए चिंतित है। दोनों आर्थिक दृष्टया स्वावलंबी है। दिल्ली के अलग-अलग कालेज में लेक्चरर हैं और दोनों एक-दूसरे के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में बाधक न होने के मूड में हैं। फिर भी दोनों की युवा उमंगें एक-दूसरे से कहीं-न-कहीं टकराती हैं, रगड़े-झगड़े उठते हैं, रूठना-खीझना होता है, तनाव-दुराव के आयाम उभरते हैं, बहुत छोटी-छोटी बातों को लेकर दोनों द्वन्द्वग्रस्त हो जाते हैं, परन्तु कहीं गहराई में वे दोनों एक-दूसरे के इतने करीब हैं कि यह सब उनके जीवन-

प्रवाह में बुलबुले की तरह उठते-मिटते रह जाते हैं । कुल मिलाकर यह उनका सुखमय जीवन है । इस उपन्यास के संदर्भ में डा. विवेकीराय की टिप्पणी है --

" अंततः नरेन्द्र कोहली के शिल्प का वह कौन-सा चमत्कार है कि एक संक्षिप्त-सी स्थिति जिसके भीतर घटनात्मक संघटन नहीं के बराबर है एक भरे-पूरे उपन्यास के रूप में पूरे समय तक पाठकों को उलझाए रहती है ? वास्तव में कोहली साहब ने महंगे सौदे पर सदा दृष्टि रखी है । यही उनकी सफलता का रहस्य है । युवा पति-पत्नी के घरेलू जीवन ; एक बेड के हमबिस्तर जीवन को छेड़ने पर भी वे सस्ते "सेक्सी एप्रोच" से शत-प्रतिशत अपने को बचा ले गए । वे चाहते तो चुंबन-आलिंगन से लेकर संभोग के चित्रों , संकेतों या चेष्टाओं से उपन्यास को पर्याप्त " तेज" बना सकते थे , परंतु जैसा कि कहा गया उनका ध्यान सस्ते सेक्स पर नहीं महंगी जीवन-संवेदना पर था जिसके लिए पति-पत्नी के जीवन के उन बिन्दुओं को लिया जो नए खून की नयी उत्तेजनाओं में एक दूसरे को समझने-समझाने में एक दूसरे को क्रोस करते उभरते हैं तथा वे जीवन के ऐसे संवेदनीय सामान्य प्रत्यय हैं जिनका xxxxxxxx साक्षात्कार प्रत्येक भावक के लिए जैसे आत्मसाक्षात्कार है । यह आत्माक्षात्कार दाम्पत्य और मातृत्व के ऐसे कोमल कोण से क्रमशः जुड़ता है , उससे एक क्षण के लिए ध्यान विचलित नहीं होता है और पढ़ने वाला अन्त तक अत्यन्त मुग्ध भाव से यात्रा कर जाता है ।" 58

इसे चाहे तो हम "दाम्पत्य-रस" का उपन्यास कह सकते हैं । इसे पढ़ते हुए अमृतराय के xxx- " सुख-दुःख" उपन्यास की स्मृति जहन में कौंधने लगती है ।

"आश्रितों का विद्रोह " एक व्यंग्यात्मक उपन्यास है । उपन्यास की कहानी एक सामान्य दृश्य से शुरू होती है । राजधानी दिल्ली के बस-स्टोप पर जनता जिसमें कालेज के लड़के-लड़कियां भी हैं बस की लम्बी xxx प्रतीक्षा में घण्टों से पंक्तिबद्ध खड़े हैं और कोई सूरत नज़र नहीं

आती । तब हंसी-हंसी में कुछ लड़के-लड़कियां पैदल चल देतीxहैx देते हैं । यह कोई व्यवस्थxx व्यवस्थित सोची-समझी चाल या बात नहीं है । बस यों ही हंसी-मजाक में यह हो जाता है और कालेज तक पहुंचते-पहुंचते तो मानो यह विधिवत् "बस-बहिष्कार" अभियान में परिवर्तित हो जाता है । वह एक प्रबल आंदोलन का रूप अख्तियार कर लेता है । कालेज से फैलकर यह युनिवर्सिटी और पूरे महानगर में एक संक्रामक रोग की भांति फैल जाता है । बसें खाली-खाली दौड़ने लगी हैं और स्वावलंबी होकर लोग पैदल चल रहे हैं । बस-बहिष्कार की चिंगारी राशन-व्यवस्था-बहिष्कार, दुग्ध-व्यवस्था-बहिष्कार, डाक-व्यवस्था का बहिष्कार आदि में फैलकर एक आग का रूप ले लेती है । संसद में सनसनी फैल जाती है । बस के ड्रायवर-कंडक्टर बैठे झख मार रहे हैं और अपनी मनमानी पर बुरी तरह से पछता रहे हैं । सबको अपनी नौकरी की चिन्ता है । डाकखाने वाले घर-घर जाकर पोस्टकार्ड और लिफाफा पहुंचाने लगे हैं । जनता के इस सामूहिक बहिष्कार रूपी तप-यज्ञ से प्रधानमंत्री का आसन डोलने लगता है । देश की जनता यदि सचमुच में स्वावलंबी हो गई तो सरकार का क्या होगा ? उनकी यह राजनीति की दुकान कैसे चलेगी ? वस्तुतः सरकार की या किसी भी व्यवस्था की मनमानी इसलिए चलती है कि लोग उस पर निर्भर रहते-रहते उसके आदी हो जाते हैं, उसके गुलाम हो जाते हैं और फलतः उनकी सब प्रकार की मनमानियों को चुपचाप बरदाश्त कर लेते हैं और इस तरह जो सेवक है, नौकर हैं, वे मालिक हो जाते हैं । अगर जनता इस प्रकार "बहिष्कार" पर उतर आवे तो ये लोग सीधे हो सकते हैं । वस्तुतः गांधीजी ने ही यह मार्ग दिखलाया था और इस महान अस्त्र के जरिये उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की चूलें हिला दी थीं । इसी बात को लेखक ने एक व्यंग्य उपन्यास का रूप दे दिया है । वस्तुतः अंग्रेजी का या "बायकोट" शब्द बहुत ज्यादा पुराना नहीं है । डा. भोलानाथ तिवारी ने इसकी बड़ी मनोरंजक व्युx व्युत्पत्ति बताई है । यथा-" अंग्रेजी में यह शब्द बहुत पुराना नहीं है । आयरलैण्ड के काउंटी मेयो में किसी जमींदार के यहां

एक केप्टन "बायकाट" नाम का कारिन्दा था । वह बड़ा क्रूर था और प्रजा को बहुत परेशान करता था । प्रजावर्ग ने आजिज आकर सन् 1880 के दिसम्बर महीने में आपस में तय करके इसके सारे काम छोड़ दिये — नाई ने हजामत बनानी छोड़ दी , धोबी ने कपड़े धोना , रसोइए ने रसोई बनाना इत्यादि । फल यह हुआ कि शीघ्र ही उसे झुकना पड़ा । उसके बाद ही इस प्रकार के बहिष्कार के लिए उसका नाम क्रिया तथा संज्ञा के रूप में अंग्रेजी में प्रयुक्त होने लगा । यूरोप की जर्मन तथा फ्रांसीसी आदि भाषाओं में भी यह शब्द फैल गया है ।" [59]

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में व्यंग्य के माध्यम से एक बड़ी गंभीर समस्या लेखक ने समाज के सामने उपस्थित की है । इस साल (2006) प्रदर्शित हुई फिल्म " लगे रहो मुन्नाभाई " में हास्य-व्यंग्य और हल्के-फुल्के ढंग से महात्मा गांधीजी के सिद्धान्तों को न केवल बताया गया है , बल्कि उसकी सफलता को भी रेखांकित किया गया है । इसके कारण देश और समाज को " गांधीगिरी" शब्द मिला है , जो गुण्डा-गिरी या दादागिरी के वजन पर बना है ।" उन्नीस अध्याय के इस उपन्यास में पूरे चार अध्याय में विस्तृत उक्त संक्षिप्त घटना की व्यंग्य बुनावट बहुत पैनी , विदग्ध , कसी , ताजी , मार्मिक , कवित्वमय , धारदार , गंभीर और सहज है ।" [60]

लेखक ने इस व्यंग्य कृति में हास्य का पुट देने के लिए एक दृष्टांत हास्य-पात्र के रूप में रामलुभाया नामक एक स्वतंत्र पात्र की सृष्टि करके उसके चुटकुलों द्वारा समूची रचना को हास्य-व्यंग्य बना दिया है । उपन्यास में वह अनेक स्थानों पर आता है । [61] उसके कारण उपन्यास की पठनीयता अनेकगुना बढ़ गयी है । उपन्यास में यत्र-तत्र व्यंग्योक्तियां हैं , जैसे —" महात्मा गांधी ने देश के लोगों से ईमानदारी , त्याग और राष्ट्र-प्रेम की मांग की थी । (कितना गलत काम किया था) और फलस्वरूप ईमानदारी , त्याग और राष्ट्र-प्रेम देश के बाजारों से गायब हो गया ।" [62] ऐसे कोष्ठकों का प्रयोग उपन्यास में जगह-जगह पर है । लेखक की व्यंग्य-वक्र शैली का एक प्रयोग देखिए —

" चेतन अपने दफ्तर से ऐसी हालत में लौटा जैसे रस निकालने की मशीन में पेरे जाने के बाद गन्ना बाहर निकलता है । उसने चाय पी , जैसे कुप्पी से टंकी में पेट्रोल डाला हो । और टाइपराइटर लेकर संतों की सहज समाधि में चला गया , उसकी उंगलियां की-बोर्ड की माला के मनके फेरती जा रही थी ।"[63] "एक बृहदाकार डिक्शनरी जैसी महिला" तथा " जंगली सूअर के समान सिर झुकाए भागती बस " जैसे प्रयोग उपन्यास की व्यंग्य-शैली को उभारते हैं ।[64]

"आश्रितों का विद्रोह" सन् 1974 में प्रकाशित हुआ था और उसी वर्ष उनका एक अन्य उपन्यास "आतंक " भी प्रकाशित हुआ । उसके प्रकाशन के संदर्भ में पूर्ववर्ती पृष्ठों में बताया जा चुका है । "आतंक" को हम समस्यामूलक व्यंग्य उपन्यास कह सकते हैं । प्रस्तुत उपन्यास "आधुनिक बोध" को एक नये संदर्भ में उकेरता है । मध्यवर्गीय विपन्नता और कुंठा आदि को केवल नर-नारी संबंधों के साथ काम-कुंठा के रूप में व्याख्यायित करना ही आधुनिकता बोध नहीं है । स्वाधीनता के उपरान्त हमारे देश में समाज और शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार एक अभूतपूर्व भ्रष्टाचार है । हमारीमुखौटावादी नपुंसक संस्कृति एक जीवंत बोध है जिसे अनुभव करता समूहमन आज अत्यन्त आहत और कुंठित हो गया है । "आतंक" में इन सबकी सशक्त अभिव्यक्ति है । यह आतंक मध्यवर्ग में संत्रास का कारण है । आतंक अलग-अलग किस्म के हैं । "बदमाशों का गिरोह है , टेम्पो वाले हैं , पुलिस , गुंडे और नेता , बड़े-बड़े आतंक है । कितना असहाय और निरीह है सामान्य आदमी इस देश में । वह समाज के जंगल में असामाजिक भेड़ियों के बीच अत्यन्त असुरक्षित है । दिल्ली का जीवन आतंक-भोग का जीवन है । बस , टैक्सी , ट्रक और स्कूटर पुष्ट आतंक-बिम्ब है । अफसर का , आफिस का , पड़ोस का , बच्चा होने का , बीमारी का , मुंडन का , प्रजातंत्र का , छात्रों का , बेकारी का , शराफत का , और शिक्षा का आतंक , ढेर के ढेर आतंक के बीच भला आदमी कहां जाय ? सम्मानपूर्वक जीने की पीड़ा और अन्याय और प्रतिकार के रूप में कुछ न कर

सकने की पीड़ा , अत्यन्त ही मार्मिकता के साथ संवेदित की गई है ।"[65]

अगर कहा गया है कि "आतंक" एक समस्यामूलक व्यंग्य उपन्यास है । उसमें निरूपित समस्या सुरक्षा की है और असुरक्षा का प्रत्येक चित्र एक सशक्त व्यंग्य है । "आतंक" का व्यंग्य "राग दरबारी" के व्यंग्य से थोड़ा भिन्न है । यहां व्यंग्य शब्दों और वाक्यों में न होकर घटनाओं की समग्रता और स्थितियों में निहित है । हर समस्या सामाजिक जीवन के आगे एक चुनौती के समान है । डा. कपिला कालेज के प्राध्यापक हैं , लेखक हैं । एक प्रकार से हम उनको लेखक का "स्पोकमेन" कह सकते हैं । उन्हें आधुनिक सभ्य लोगों के प्रति एक शिकायत है और वह यह कि "हर शिक्षित व्यक्ति संघर्ष से कतराता क्यों है ? " स्वाधीनता के उपरान्त बुद्धिजीवियों की एक नपुंसक भूमिका हमारे देश में रही है । यह बुद्धिजीवी वर्ग सुविधाभोगी हो गया है और किसी प्रकार का खतरा मोल लेना नहीं चाहता है । यह बात लेखक वर्ग पर भी लागू होती है । कितने ऐसे लेखक हैं जिनको अपने लेखन के कारण जेल जाना पड़ा है , पास्तरनाक , सोल्झेनित्सिन और तस्लीमा नसरीन की तरह अपना देश छोड़ना पड़ा है । वास्तव में हमारे देश का मध्यवर्ग या बुद्धिजीवी वर्ग आजादी के उपरान्त अपनी ऊर्जा खो चुका है । डा. देसाई साहब का एक दोहा स्मृति में कौंध रहा है —

" लड़ते लड़ते मर गया , सैंतालीस में देश ।
गीदड़ गिध चबा रहे , बदल कबिरा भेश ।।"[66]

आजादी के बाद बुद्धिजीवियों की भूमिका पर श्रीलाल शुक्ल ने अपने "राग दरबारी" उपन्यास में अच्छी फब्ती कसी है —" देखो , देखो , कौन-सा शब्द है — हां , हां , याद आया — कहलाते हैं , बुद्धिजीवी । तो हालत यह है कि विलायत का एक चक्कर लगाने के लिए साबित करना पड़ जाय कि हम अपने बाप की औलाद नहीं है , तो साबित कर देंगे । चौराहे पर दस जूते मार लो , पर एक बार अम-

रीका भेज दो -- ये हैं बुद्धिजीवी । " ¥¥ 67 अन्यत्र इसी उपन्यास में बुद्धिजीवी का यह खाका खींचा गया है । छंगामल कालेज के मैनेजर का चुनाव जिस तरह होता है, उसे देख-सुन रंगनाथ बुरी-तरह से आहत होता है । यथा --" शहर होता तो वह किसी काफ़ी-हाउस में बैठकर दोस्तों के सामने इस चुनाव पर लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दे डालता, उन्हें बताता कि किस तरह तमंचे के जोर से छंगामल इण्टर कालेज की मैनेजरी हासिल की गयी है और मेज पर हाथ पटककर कहता कि जिस मुल्क में इन छोटे-छोटे ओहदों के लिए ऐसा किया जाता है, वहां बड़े-बड़े ओहदों के लिए क्या नहीं किया जाता होगा । यह सब कहकर, उपसंहार में अंग्रेजी के चार गलत-सही जुमले बोलकर, वह काफ़ी का प्याला खाली कर देता और चैन से महसूस करता कि वह एक बुद्धिजीवी है और प्रजातंत्र के हक में एक बेलौस व्याख्यान देकर और चार निकम्मे आदमियों के आगे अपने दिल का गुबार निकालकर उसने "क्राइसिस आफ फेथ " को दबा लिया है ।" 68

"आतंक" में तीन कहानियां एक साथ चलती हैं । एक कहानी है डा. कपिला की, दूसरी बलराम की और तीसरी कहानी है मक्खन-लाल की । प्रथम दो प्राध्यापक और लेखक हैं और अतएव सज्जन हैं । तीसरा "आतंक" का साक्षात स्वरूप है । डा. नरेन्द्र कोहली ने हमारे समकालीन समाज की तमाम-तमाम विसंगतियों और जटिल स्थितियों का साक्षात्कार तटस्थता के साथ करवाया है । डा॰ विवेकीराय इस उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं --" कथाकार न कहीं भावुक बनता है और न अपना निर्णय, समाधान अथवा विचार हम पर थोपता है । "आतंक" का अनुभव पाठक स्वयं करता है और इसलिए वह बहुत प्रभावशाली होता है । घटनाएं और अत्याचार की स्थितियां चुनी हुई हैं, अतः उपन्यास चुस्त हो गया है । मनोरंजन, सनसनी, आतंक और उद्दंडता से भरपूर उपन्यास कहीं हलका नहीं होता है । घटनाओं की सतह से केन्द्रीय व्यंग्य की गहराई में पाठकीय चित्त सहजता से प्रवेश कर जाता है ।" 69

"आत्मदान" डा. कोहली का एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसे हम विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक कह सकते हैं क्योंकि उसका समय हर्ष-वर्द्धन और राज्यवर्द्धन का है। भारतीय इतिहास में सम्राट हर्ष का एक विशिष्ट स्थान है। डा. विवेकीराय इसे "पौराणिक- ऐतिहासिक" उपन्यास कहते हैं —" "आत्मदान" में नरेन्द्र कोहली ने पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर जो कथा बुनी है वह उनकी सर्जनात्मक उर्वरता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।" 70

सम्राट हर्षवर्द्धन का समय है, अतः इसे ऐतिहासिक तो कह सकते हैं, पर डा. राय इसे "पौराणिक" किस दृष्टि से कहते हैं, कुछ समझ में नहीं आता है। प्रथम अध्याय में "इतिहास" और "पुराण" तथा "ऐतिहासिक उपन्यास " और "पौराणिक उपन्यास " के संदर्भ में काफी चर्चा कर चुके हैं। उसके प्रकाश में प्रस्तुत उपन्यास किसी लिहाज से "पौराणिक" नहीं ठहरता है। स्वयं डा. कोहली ने अपने "आत्म-कथ्य" में इस उपन्यास को "ऐतिहासिक" ही माना है —" इसी बीच अपनी एक पुरानी और अधूरी छूटी पांडुलिपि के आधार पर एक ऐतिहासिक उपन्यास "आत्मदान" तैयार कर डाला। यह राज्यवर्धन के चरित्र को लेकर था -- कुछ रोमानी-सा उपन्यास।" 71

उपन्यास की कथा कुछ इस प्रकार है। जब राज्यवर्धन कश्मीर में युद्धरत थे, तभी उनके पिता प्रभाकरवर्धन का निधन हो जाता है। राज्यवर्धन अपने भाई हर्ष की सहायता के लिए स्थाणीश्वर की ओर बढ़ते हैं। कुल कथा स्थाणीश्वर से कान्यकुब्ज तक की है। इसमें एक तरफ राज्यवर्धन, हर्षवर्धन, राज्यश्री जैसे उदात्त पात्र हैं; तो दूसरी तरफ देवगुप्त, गौड़ाधिपति शशांक आदि अनुदात्त पात्र हैं। राज्यवर्धन अपनी बहन की मुक्ति के लिए शत्रुओं से लड़ता है, परंतु गौड़ाधिपति शशांक की कूटनीति का शिकार होकर अपने प्राण गंवा बैठते हैं। इस प्रकार वह अपनी बहन राज्यश्री को मुक्त नहीं करवा पाते और बहनोई की हत्या का बदला भी नहीं ले पाते। राज्यवर्धन के पश्चात् हर्षवर्धन सत्ता के सूत्र संभालते हैं। यद्यपि भारतीय इतिहास में हर्षवर्धन

की ख्याति एक महान सम्राट के रूप में है , तथापि प्रस्तुत उपन्यास में उनके ज्येष्ठ बंधु राज्यवर्धन के चरित्र को अधिक महत्त्व दिया गया है । इसमें उनके शौर्य , त्याग , अहिंसा जैसे गुणों को चित्रित किया गया है । राज्यवर्धन एक सीधे-सादे , उदात्त , उदार और निश्छल प्रकृति के आदर्शवादी-सिद्धान्तवादी राजन है , तभी तो गौड़ाधिपति शशांक कूटनीति से उनको मरवाने में सफल हो जाता है । एक स्थान पर राज्यवर्धन अपने पिता से कहते हैं —" क्षत्रिय हत्या के लिए शस्त्र धारण नहीं करता । वह शस्त्र धारण करता है लोक-कल्याण के लिए , आर्त-त्राण के लिए , निर्बल की रक्षा के लिए ।" [72] अपनी अमानवीय हत्या पर राज्यवर्धन कहते हैं —" मेरे ही आदर्शों में मुझे बांधकर तूने मेरी हत्या नहीं की , छल-प्रपंच से सहज मानवीय विश्वास की हत्या की है ।"[73] लेखक की संवेदना भी इसी पात्र के ~~साथ है~~ साथ है । उपन्यास के अंत भाग में लेखक कहते हैं —" अपने माता-पिता को खोकर , अपने बहनोई की हत्या तथा बहन की पीड़ा की बात सुनकर राज्यवर्धन कितना दुःखी हुआ था । ... उसने देखा था कि प्रेम का छिन जाना कितना हृदयविदारक होता है । ... तभी तो राज्यवर्धन ने चाहा था कि संसार में किसीका भी प्रेम न छिने ... किसीके लिए उसके प्रेम का अभाव न रहे ।" [74] इस प्रकार "आत्मदान" एक सिद्धान्तवादी-आदर्शवादी , उदार-उदात्त , महामना , प्रजावत्सल राजा की असफलता के विषाद की कहानी है ।

डा. नरेन्द्र कोहली का समग्र कृतित्व :

डा. नरेन्द्र कोहली एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं । उनके कृतित्व के कई आयाम हैं । प्रारंभ उन्होंने एक कहानीकार के रूप में किया । कुछ ऐसी विषम स्थितियां सामने आयीं तो उनके सर्जक ने एक व्यंग्यकार का रूप भी धारण किया । दिल्ली आने पर उनकी अभिरूचि नाटकों की ओर भी गयी और उन्होंने कुछ नाटक भी दिए । हिन्दी-साहित्य के प्राध्यापक होने के नाते उनका एक

रूप सुधी आलोचक या समीक्षक का भी है । यहाँ उनके समग्र साहित्य की एक तालिका दी जा रही है —

§1§ उपन्यास : 1. अभ्युदय-1 / दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर / ; 2. अभ्युदय-2 § युद्ध-1, युद्ध-2 § ; 3. महासमर - 1 / बंधन / ; 4. महासमर-2 / अधिकार / ; 5. महासमर-3 / कर्म / ; 6. महासमर - 4 / धर्म / ; 7. महासमर-5 / अंतराल / ; 8. महासमर-6 /प्रच्छन्न / ; 9. महासमर-7 / प्रत्यक्ष / ; 10. महासमर-8 / निर्बन्ध / ; 11. तोड़ो, कारा तोड़ो ; 12. अभिज्ञान ; 13. आतंक, 14. साथ सहा गया दुःख, 15. आत्मदान, 16. प्रीतिकथा, 17. पुनरारंभ, 18. मेरा अपना संसार, 19. जंगल की कहानी ।

§2§ कहानियाँ : समग्र कहानियाँ-1, समग्र कहानियाँ -2 ।

§3§ व्यंग्य : 1. एक लाल तिकोन, 2. पांच एब्सर्ड उपन्यास, 3. आश्रितों का विद्रोह, 4. जगाने का अपराध, 5. आधुनिक लड़की की पीड़ा, 6. त्रासदियाँ, 7. परेशानियाँ, 8. समग्र व्यंग्य ।

§4§ नाटक : 1. शंबूक की हत्या, 2. निर्णय रूका हुआ, 3. हत्यारे, 4. गारे की दीवार, 5. समग्र नाटक ।

§5§ अन्य : 1. नेपथ्य, 2. बाबा नागार्जुन, 3. हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धान्त ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि डा. कोहली एक बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न लेखक हैं । अधिकांश लेखकों की तरह प्रारंभ तो इन्होंने भी कविताओं से किया था, किन्तु बहुत शीघ्र ही उन्होंने समझ लिया कि उनमें कवि-प्रतिभा नहीं है और वह एक कथा-यात्री हैं ।

डा. नरेन्द्र कोहली का व्यक्तित्व :

"व्यक्तित्व" शब्द, "व्यक्ति" में "त्व" प्रत्यय लगने से बनता है । हिन्दी शोध-अनुसंधान के क्षेत्र में प्रायः किसी साहित्यकार

को लेकर शोध-कार्य किया जाता है, तो उसका शीर्षक प्रायः "व्यक्तित्व" और "कृतित्व" से युक्त होता है, यथा - "डा. नरेन्द्र कोहली: व्यक्तित्व और कृतित्व", "मन्नू भंडारी : व्यक्तित्व और कृतित्व", "मोहन राकेश : व्यक्तित्व और कृतित्व" आदि-आदि। यहां किसी भी लेखक या लेखिका, कवि या कवयित्री के कृतित्व का पता तो आसानी से लग जाता है, यदि वह आधुनिक या समसामयिक है। किन्तु व्यक्तित्व का पता लगाना उतना सरल नहीं होता है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व में कई-कई पहलू और आयाम होते हैं। एक ही व्यक्ति के जीवन में कई-कई "रोल" होते हैं। संबंध पारिवारिक भी होते हैं, सामाजिक भी, व्यावसायिक भी, उनमें भी संबंध बराबर वालों से, वरिष्ठ या कनिष्ठ लोगों से; तो इन सबके साथ के व्यवहार में व्यक्ति-जीवन के कई रंग और "शेड्इज" सामने आते हैं। संक्षेप में यह विषय बड़ा पेचिदा होता है। किसी व्यक्ति के बारे में बताना, और सत्य बताना, यह बड़ा ही मुश्किल कार्य होता है, क्योंकि कई बार वह व्यक्ति-सापेक्ष होता है। एक ही व्यक्ति के विषय में अलग-अलग लोगों की राय अलग-अलग हो सकती है। इस तरह यह "व्यक्तित्व-चित्रण" भी "पदार्थ-चित्र" जैसा होता है। प्राथमिक तथा माध्यमिक में "ड्राइंग" की कक्षाओं में शिक्षक अपने छात्रों से "पदार्थ-चित्र" बनाने के लिए कहते हैं। उसमें कक्षा में टेबल पर कुछ चीजों को रखा जाता है और छात्रों से कहा जाता है कि वे अपने स्थान से वे चीजें जिस तरह दिखती हैं, उसी प्रकार का चित्र बनावें। तो यहां चित्र किस "एंगल" से आप उसे देखते हैं, उस पर निर्भर करता है। ठीक उसी प्रकार व्यक्ति का भी होता है, वह जिस "एंगल" से उसे देखता है, वह व्यक्ति उसे उसी प्रकार का दिखता है।

फिर यह व्यक्तित्व भी दो प्रकार का होता है — बाह्य व्यक्तित्व और आंतरिक व्यक्तित्व। हमारी पकड़ में जो अधिक आता है, वह प्रायः बाह्य-व्यक्तित्व होता है। आंतरिक व्यक्तित्व को आंक पाना बड़ा ही जटिल कार्य है। मनोविज्ञान में कुछ परीक्षण होते हैं, किन्तु उनके द्वारा भी किसी व्यक्ति का आकलन 70 से 80 प्रतिशत

ही संभव है । व्यक्ति के अंतर्मन (unconscious mind) की थाह लेना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है । यही कारण है कि उसकी तुलना "हीम-पर्वत" (Iceburge) से की जाती है । समुद्र में जो हिम-पर्वत पाए जाते हैं उनमें उसका केवल आठवां भाग ही xxxx बाहर दिखता, शेष भाग उसके समुद्र में xxxxx होते हैं । अतः मनुष्य जो दिखता है, जिसे प्रायः हम जानते हैं, वह तो उसके समूचे व्यक्तित्व का केवल आठवां हिस्सा है । उसके 7/8 हिस्से से तो हम पूरी तरह से नावाकिफ़ होते हैं ।

डा. महेशदत्त शर्मा इस संदर्भ में बताते हैं -- " पाठक के लिए सबसे बड़ी कठिनाई लेखक के व्यक्तित्व को जानने की होती है । किन्तु उसके पास ऐसे साधन नहीं होते कि वह इस तथ्य से परिचित हो सके । इसलिए वह लेखक के कृतित्व को ही उसका व्यक्तित्व मान बैठता है । उदाहरण के लिए, सिनेमा के नायक सच्चाई, प्रेम, ईमानदारी, सत्यवादिता, देशप्रेम और गरीबों के साथ सहानुभूति का अभिनय करते हैं । उनका यह अभिनय, उनका कृतित्व होता है । दर्शक उनके आदर्श पर मुग्ध होते हैं, किन्तु उनके वास्तविक जीवन में उन पर करोड़ों रूपयों का आयकर बकाया होता है, शराब पीकर दुर्व्यवहार करना उनकी दिनचर्या होती है । अभिनेता से नेता बनते ही यह कलाकार जनता को प्रवंचित करते दिखाई देते हैं । चूंकि जनता उनके आदर्श नायक के उस रूप को ही उनका व्यक्तित्व मान चुकी है होती है । इसलिए वह उसके चरित्र का सही मूल्यांकन नहीं कर पाती ।" [75]

लेकिन यहां महेशदत्तजी ने जो उदाहरण दिया है, वह किसी व्यक्ति का केवल एक पक्ष है । दूसरे अभिनेता के अभिनय को ही उसका कृतित्व समझना बड़ी भारी भूल होगी, क्योंकि अभिनय तो उसे जो भी किरदार दिया जाता है, उसका वह करता है । अपनी जाती जिन्दगी में xxxxx निहायत प्रामाणिक होने वाले व्यक्ति को कई बार विलैन का रोल करना पड़ता है । हिन्दी रजत-पट के विख्यात अभिनेता प्राण ने अधिकांशतः खलनायक का अभिनय किया

है , हालांकि उनको जानने वाले कहते हैं कि अपनी वास्तविक जिन्दगी में वे एक निहायत सज्जन व्यक्ति हैं । अभिप्राय यह कि यह किरदार तो उसे दिया जाता है , लेकिन लेखक के साथ ऐसा नहीं है , वह वही लिखता है जो उसे लिखना होता है । हां , कुछ लोग फरमाइशी लेखन करते हैं , पर ऐसे लेखन में कई बार जान नहीं होती है । स्वयं डा० कोहली ने इस संदर्भ में कहा है —

" आरंभ में अनेक प्रकार के प्रयोग किए हैं । किन्तु अब मन में बात बड़ी साफ है ... लिखूंगा वही , जो लिखना चाहता हूं । आप चाहें उसका नाटक बनाएं , फिल्म बनाएं , पेपरबैक में छापें , डीलक्स में छापें । आपकी फरमाइश पर नहीं लिखूंगा । लिखने की बात मन में होगी , आप अनुराध करें तो आपके अनुरोध को प्रोत्साहन मानूंगा और× और लिखूंगा । पर अपनी इच्छा के विरुद्ध नहीं लिखूंगा । लिखूंगा वही जो मेरा विवेक कहेगा । विवेक के विरूद्ध किसीको प्रसन्न करने के लिए एक शब्द नहीं लिखूंगा ... चाहे दूसरा कितना ही बड़ा आदमी क्यों न हो । सच नहीं बोल सकूंगा तो चुप रहूंगा । झूठ नहीं बोलूंगा । यह मेरा दंभ नहीं है ... मैं तो एक साधारण चीज हूँ । पर अपने किसी कृत्य से लेखक के स्वाभिमान पर आघात नहीं होने दूंगा , न उसकी ईमानदारी को मलिन करूंगा । नरेन्द्र कोहली तुच्छ-सा व्यक्ति है , साधारण , सामान्य ... पर लेखक " लेखक " बहुत पवित्र शब्द है , उसे अपमानित करना मानवीय अपराध है । ... इसलिए बहुत इच्छा होने पर भी "फ्री-लांसर" नहीं बन सका । फ्री-लांसर को घटिया परिश्रम करते और अपमानित होते देख , अपनी अध्यापक की नौकरी बहुत सम्मानजनक लगती है । नौकरी आजीविका के लिए और लेखन मानवीय धर्म के लिए । देखना यह है कि कब तक धर्म का निर्वाह कर पाता हूं ।" 76

इसलिए ऊपर अपनी बात कहने के लिए महेशदत्तजी ने जो उदाहरण दिया , वह वस्तुतः गलत है । लेखक को हमारे यहां "ऋषि" का दर्जा दिया गया है । चिंतक और दार्शनिक का दर्जा दिया गया है ।

अतः लेखक का कृतित्व और उसका व्यक्तित्व अगर अलग-अलग दिशाओं में जा रहा है, तो उसे हम उसके व्यक्तित्व का "दोगलापन" ही कह सकते हैं।

अंग्रेजी में कहा गया है -- "Man is known by his deeds." -- अर्थात् मनुष्य उसके कार्यों से जाना जाता है और लेखक की कृतियां ही उसका कार्य हैं, अतः कृतियों के माध्यम से लेखक के व्यक्तित्व तक पहुंच सकते हैं, लेकिन यह अत्यन्त ही कठिन कार्य है। हमारे यहां "व्यक्तित्व एवं कृतित्व" वाले जो कार्य होते हैं, उनमें इन दोनों बातों की अलग-अलग चर्चा तो की जाती है, किन्तु इनमें परस्परका तालमेल प्रायः नहीं बिठाया जाता है। दूसरे कृतियों के अतिरिक्त भी लेखक के दूसरे कार्य भी होते हैं, अतः उन सब कार्यों के संदर्भ में लेखक के व्यक्तित्व को ढूंढा जा सकता है।

कृतियों के माध्यम से लेखक तक पहुंचने की जो यात्रा है, वह अत्यन्त कठिन है, अतः हम एक आसान-सा, व्यावहारिक और बाह्य-साक्ष्य रास्ता ढूंढ लेते हैं, कि अलग-अलग लोग उनके बारें में क्या कहते हैं। अतः सर्वप्रथम हम उनकी पत्नी के अभिमत को लेते हैं। यद्यपि पत्नी द्वारा कही हुई बात अधिक वस्तुपरक (objective) नहीं हो सकती, कहीं-न-कहीं उसमें (subjectiveness) आ ही जाती है। उसमें भावुकता भी रहती है और सबसे अहम् बात भारतीय नारी के संस्कारों की। तथापि लेखक के व्यक्तित्व का एकाध कोण तो लक्षित हो ही सकता है।

डा. नरेन्द्र कोहलीजी की धर्मपत्नी श्रीमती मधुरिमा कोहली अपने पति डा. नरेन्द्र कोहली के संदर्भ में कहती हैं --" मैं पिछले तीस वर्षों से उन्हें जानती हूं। जानने का एक अत्यन्त सुखद अनुभव इस व्यक्ति की ईमानदारी का है। जितना मैंने इन्हें जाना है, यह पूरी तरह ईमानदार व्यक्ति हैं। ईमानदारी, जीवन के हर क्षेत्र में -- चाहे वह लेखन का क्षेत्र हो, अध्यापन या पारिवारिक-सामाजिक

सम्बन्ध । संभवतः व्यक्ति के इसी पक्ष से प्रभावित हो , अनेक लोग मार्ग-निर्देशन× निर्देशन अथवा प्रेरणा प्राप्त करने के लिए , इनसे जुड़ते चले जाते हैं । परस्पर विश्वास , सौहार्द और सहयोग पर बने ये सम्बन्ध ऐसे घनिष्ठ और आत्मीय हैं कि मनको एक सुखद स्फूर्ति से भर देते हैं । अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद कैसे यह सबके लिए सहज-सुलभ बने रहते हैं , इनके व्यक्तित्व का यह रूप भी मेरे लिए कम आश्चर्यजनक नहीं है ।" 77

यहां मधुरिमाजी ने डा. कोहली की ईमानदारी , उनके सौहार्द और सहयोग और उनकी आत्मीयता के संदर्भ में इंगित किया है । एक पति के रूप में डा. कोहली किस तरह के व्यक्ति हैं , उस संदर्भ में वह कहती हैं —" डा. कोहली का पति रूप तो अनेक भारतीय पत्नियों के लिए ईर्ष्या का कारण बन सकता है । आमंत्रित अतिथियों के सामने , छोटे-बड़े सभी कामों में पत्नी का हाथ बंटाते देख , अनेक लोग , विशेषकर"पत्नियां " उन्मुक्त प्रशंसा कर उठती हैं । घर में रहने आये हुए साहित्यिक बंधुओं के लिए सुबह पांच बजे उठकर दूध लेने के लिए निकल पड़ने वाले इस आदमी को लेखक नरेन्द्र कोहली से जोड़ना काफी कठिन हो जाता है ।" 78

डा. नरेन्द्र कोहली के व्यक्तित्व का कौन-सा रूप आपको सबसे ज्यादा सुखद लगता है , इस प्रश्न के पूछे जाने पर श्रीमती कोहली कहती हैं —" यूं तो मैंने इन्हें अनेक रूपों में देखा और जाना है , पर मेरे लिए सबसे सुखद रूप है — साथी का रूप । वे शब्द के ठीक अर्थ में साथी हैं । मेरी कोई खुशी तो ऐसी हो सकती है , जो इन्होंने मेरे साथ न बांटी हो , पर दुःख छोटा या बड़ा एक भी ऐसा नहीं जिसमें इन्होंने साथ न निभाया हो । कोई समस्या तभी तक मेरी समस्या रहती है जब तक मैं उसे अपने तक ही सीमित रखती हूं । इन्हें बताते ही वह समस्या इनकी हो जाती है और मैं केवल उसके सुलझने की प्रतीक्षा किया करती हूं । ऐसा साथी पा लेने पर जीवन के अन्य कई अभाव कैसे नितांत बेमानी हो जाते हैं -- यह मैंने अपने अनुभव से जाना है ।" 79

एक पिता के रूप में कोहलीजी का मूल्यांकन करते हुए मधुरिमाजी कहती हैं —" जब बच्चे छोटे थे तो वह पिता के रूप में, बच्चों को बहुत समय दिया करते थे, पर यह पक्ष शायद इनका दुर्बल पक्ष है। प्रायः दायित्व भावना से प्रेरित होकर ही बच्चों को समय दे सके हैं, सहज स्वाभाविक वात्सल्य इन्हें बच्चों की ओर आकृष्ट नहीं करता। बच्चों के खाने-पीने, पहने के वस्त्र, स्कूल की पढ़ाई, मनोरंजन या उसकी बातें — इन सभी से काफी उदासीन रहते हुए भी कैसे वे एक स्नेहशील पिता का व्यक्तित्व बनाए हुए हैं — यह स्थिति अवश्य ही आश्चर्य में डालने वाली है।" [80]

ईशान महेश ने डा. नरेन्द्र कोहली की "सृजन-साधना" पर काफी काम किया है और जिनको हम लेखक के करीबी लोगों में से भी कह सकते हैं, क्योंकि "नरेन्द्र कोहली ने कहा" पुस्तक को कोहलीजी ने ईशान को ही समर्पित किया है :" ईशान महेश के लिए जिनके मन में इस पुस्तक का विचार अंकुरित हुआ।" [81] तो यही ईशान महेश डा. नरेन्द्र कोहली के संदर्भ में कहते हैं —" गर्मियों में एक बार जब अगस्त्य अस्वस्थ हुआ था तो वे उसकी चिकित्सा में जुटे रहे थे। निश्चित समय पर उसे औषधि देना, कब कितनी मात्रा में पथ्य देना है — इन सारी गतिविधियों पर ही उनका ध्यान केन्द्रित रहता था। ऐसी परिस्थिति में, मैं जब भी उनके घर पहुँचा, उन्होंने कहा, "काम नहीं होगा।" " [82] ईशानजी ने यह बात लेखक के पिता रूप की चर्चा करते हुए कही है।

डा. कोहली के व्यक्तित्व पर बात करते हुए ईशान महेश कहते हैं —" मुझे अनेक बार लगा कि डा. कोहली शान्त एवं स्थिर मनः स्थिति होने पर ही लेखन में ध्यानस्थ हो सकते हैं। कोई व्यक्ति कष्ट में हो, तो वे विचलित हो जाते हैं। ऐसे में लेखन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण, उनके लिए वह व्यक्ति हो उठता है — चाहे वह उनका भृत्य ही क्यों न हो। मैंने देखा है कि प्रत्येक सर्दी में, वे विनोद

को ऊनी वस्त्र पहनने के लिए निरंतर उसी प्रकार टोकते रहते हैं, जिस प्रकार अपने बच्चों को कोई पिता कहता रहता है। विनोद जब भी अस्वस्थ होता है, वे उसे तत्काल दवाई दिलाकर लाते हैं और उसके खान-पान इत्यादि को लेकर गंभीर हो उठते हैं। उनके लिए उस समय उसकी सेवा-शुश्रूषा ही प्रधान हो जाती है।" 83

आगे ईशान महेश, डा. नरेन्द्र कोहली के अपने भृत्य द्वारा पढ़ने की इच्छा प्रकट करने पर उनके व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं —" बात सेवा की ही नहीं शायद आवश्यकता की है। विनोद की इच्छा पढ़ने की थी, तो उन्होंने उसको "ओपन स्कूल" में प्रवेश दिलवाया। पुस्तकें उपलब्ध करवायीं। उसको पढ़ाने का दायित्व पूरे परिवार को सौंपा।" 84 डा. कोहली के संदर्भ में अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए आगे ईशान कहते हैं —" मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा था, कि वे किसीको भी उसके स्वधर्म के विपरीत चलाने का या ले जाने का प्रयत्न नहीं करते। उसके विकास में, उसके सहायक बनने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं।" 85

डा. नरेन्द्र कोहली के "कृतित्व" को उनके "व्यक्तित्व" से जोड़ने वाली एक कड़ी "सृजन-साधना" है। इसे हम "संस्मरणात्मक औपन्यासिक" कृति कह सकते हैं, जो डा. कोहली के व्यक्तित्व पर आधारित है। "सृजन-साधना" के लेखक हैं ईशान महेश जो इस संदर्भ में अपनी बात इस प्रकार व्यक्त करते हैं —" "सृजन-साधना" डा. नरेन्द्र कोहली और मेरे सम्बन्धों की नौ वर्ष की यात्रा है। यह सब मेरी दृष्टि से देखा गया है। दृष्टि के मूल में, मेरी अपनी भावना है। प्रयत्न है कि तटस्थ रहूं, किन्तु मेरा मन श्रद्धाविहीन नहीं होता, इसलिए जो कुछ भी "सृजन-साधना" में है, वह श्रद्धाविहीन नहीं है। सपाट-बयानी मेरा शिल्प है, मेरे शब्द {कोई बात} छिपाते नहीं हैं, उद्घाटित करते हैं, प्रमाण देते हैं। ... मैं यह दावा नहीं

करता कि डा. कोहली का यही सम्पूर्ण और वास्तविक स्वरूप है ; या यह उनकी रचनाओं का अंतिम मूल्यांकन है । मैं तो मात्र इतना ही कहना चाह रहा हूँ कि मेरी दृष्टि ने उनका कौन-सा रूप देखा है ।"[86]

लेखक के अतिरिक्त डा. नरेन्द्र कोहली एक अध्यापक भी हैं । उनकी अध्यापन कला की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी कक्षा में अयोग्य समझे जाने वाले छात्र भी मंत्रमुग्ध हो उनका व्याख्यान सुनते रहते थे । इस संदर्भ में उनके एक विद्यार्थी की टिप्पणी यहाँ ध्यातव्य रहेगी — "अबे , कुछ भी कह , पर पढ़ाता शानदार है । जब देखो तब फाइलें पकड़े घूमता है , जो किताब पढ़ानी होती है , उसे अपने पास रखता है । बाकी तो हमारी ही किताबें माँगकर पढ़ाते हैं , और खाली टहलते हुए कक्षा में चले आते हैं । इसके हाथ में फाइलें और किताबें देखकर तो लगता है , यह टीचर नहीं स्टूडेण्ट है । बेचारा रातभर पढ़ता होगा , फिर हमारे लिए नोट्स तैयार करता होगा ।"[87]

छात्र की उक्त टिप्पणी का स्वर कदाचित् व्यंग्यात्मक है , किन्तु इससे डा. कोहली की अध्यापन-कला के कतिपय मुद्दे उभरकर आते हैं — 1. पढ़ाने के संदर्भ में वह अत्यन्त ईमानदार दिखते हैं , 2. पर्याप्त तैयारी के साथ कक्षा में आते हैं , यों ही टहलते हुए नहीं चले आते , 3. पाठ्य किताब अपने पास रखते हैं , दूसरों की तरह माँगकर नहीं पढ़ाते हैं , 4. उनके पास पर्याप्त पाठ्य-सामग्री (Content) होता है ।

इस संदर्भ में मुझे मेरे प्राफेसर डा. चारूकान्त देसाई की निम्न बातें याद आ रही हैं । वे सदैव कहते थे कि विश्वविद्यालय के अध्यापक के पास अपनी स्वयं की एक समृद्ध-संपन्न लायब्रेरी होनी ही चाहिए । जिस प्रकार दूसरे व्यवसाय वाले लोग अपने औजार अपने पास रखते हैं , ठीक उसी तरह विश्वविद्यालय या कालेज के अध्यापक के पास भी अपने औजार होने चाहिए और एक अध्यापक के औजार सिवाय पुस्तकों के और क्या हो सकता है ? उन्होंने "मानसमाला" में लिखा है —

" काव्य कला नहीं शास्त्र है , नहीं ग्रन्थों को मान ।
कबिरा घर वह घर नहीं , समझो उसे स्मशान ।।" 88

देसाई साहब "कबिरा" तखल्लुस से गीत-गज़ल- कविता इत्यादि लिखते थे××× हैं और उनका उक्त कथन उनकी कथनी-करनी की एकता को भी प्रमाणित करता है , क्योंकि उनकी अपनी एक समृद्ध-संपन्न लायब्रेरी है ।

ईशान महेश इस संदर्भ में कहते हैं —" मैंने पाया कि योग्य विद्यार्थी डा. कोहली के गुणों का बखान सम्मानजनक शब्दों में करते हैं और अयोग्य विद्यार्थी उनके गुणों को ही , उनके अवगुण मानते हैं । उन्हें शिकायत थी कि वे कालेज में आकर , कक्षा से अनुपस्थित क्यों नहीं रहते ? अन्य अध्यापकों के समान , उन्हें भी इधर-उधर का कोई काम याद क्यों नहीं आ जाता । घंटी बजते ही वे कक्षा के दरवाजे पर प्रकट क्यों हो जाते हैं ? क्यों कभी हंसी-ठिठौली करके कालांश गुजार नहीं देते ?" 89

इसी संदर्भ में ईशान महेश उनके अतीत में झांकते हुए कहते हैं — " डा. कोहली अपनी कक्षा नियमित रूप से लेते थे । अपवाद वाले दिन वे अवकाश पर ही होते थे । मेरा मन अनुभव करने लगा कि मुझे अब अपने प्रश्नागारों के द्वार खोल देने चाहिए । एक अध्यापक विद्यार्थियों का समाधान करने के लिए तत्पर भी था और सहज उपलब्ध भी , जाने यह अवसर मिले न मिले ।" 90 डा. कोहली की वाणी के प्रभाव के संदर्भ में ईशान कहते हैं —" जो आध्यात्मिक प्रसंग डा. कोहली सुनाते हैं , वे अन्य लोगों के मुख से भी मैंने सुने हैं , किन्तु अधिकतर व्यक्तियों का तपस्यारहित स्वर , मेरे तथा अन्य लोगों के मन के तारों को झन-झना नहीं पाता । जब भी कोई सधा हुआ और पवित्र स्वर मुझे सुनाई दिया है , मेरे मन की वीणा स्वयं संगीतमय हो उठी है ।" 91 प्रायः डा. कोहली अपने विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहते थे —" प्रश्न करना अच्छी बात है । जब तक विद्यार्थी अपने प्रश्नों को खुलकर अपने अध्यापक के समक्ष नहीं रखेगा तब तक अपना विकास नहीं कर पxxx पायेगा । प्रश्न वही कर सकता है जो सोचता है और जिज्ञासु है ।" 92

अपने विद्यार्थियों को पुस्तकों और साहित्य का महत्व व मर्म समझाते हुए वे प्रायः कहा करते थे — " जितनी आवश्यकता×[illegible] तुम उनकी (अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएं) अनुभव करते हो , उतनी ही आवश्यकता जिस दिन पुस्तकों की अनुभव करने लगोगे , उसी दिन वे भी तुम्हें सस्ती लगने लगेंगी । प्रश्न है तुम्हारी दृष्टि की प्राथमिकता का । मेरी इच्छा है कि छात्र पुस्तकों से प्रेम करें । इसलिए तुम्हें अधिक से अधिक पुस्तकें खरीदनी चाहिए । पुस्तकें तुम्हें धन से अधिक प्रिय होनी चाहिए । हां , किसीकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है तो उसकी सहायता के लिए पुस्तकालय तथा अन्य साधन हैं । और यदि पुस्तकें खरीदने के लिए रुपए नहीं हों तो मुझसे ले लो । ... तुम हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी हो और साहित्य का विद्यार्थी मेधावी होना चाहिए । वह गंभीर होता है , जो बाहरी तामझाम से कहीं अधिक अपने मन और आत्मा के विकास का इच्छुक होता है ।" [93]

ईशान महेश अपने कालेज के दिनों की जुगाली करते हुए कहते हैं — " डा. नरेन्द्र कोहली एक मात्र अध्यापक थे , जो समय-समय पर अपने सभी विद्यार्थियों को नैतिक उपदेश दिया करते थे । विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से वे विद्यार्थियों को , उनके कर्तव्यों से अवगत कराते और यथाशक्ति उनकी सहायता करने के लिए तत्पर रहते । जितने प्रश्न विद्यार्थी उनकी कक्षा में पूछते थे उतने किसी अन्य की कक्षा में पूछे नहीं जाते थे । कारण स्पष्ट था । प्रश्न किसी भी क्षेत्र का हो सकता था — सामाजिक , राजनैतिक , धार्मिक और नितांत वैयक्तिक भी । ... प्रायः अध्यापकों ने विद्यार्थियों से अपना सम्बन्ध केवल पाठ्यक्रम तक ही सीमित कर रखा था । वे मात्र कोर्स" पूरा करवाने तक ही हमारे अध्यापक थे । डा. कोहली को छोड़कर किसी अन्य अध्यापक ने उस "गुरु" की भूमिका का तनिक भी उत्साह नहीं दिखाया , जो अपने विद्यार्थियों के पूर्णरूपेण सर्वांगीण विकास के लिए चिंतित और प्रयत्नशील रहता है ।" [94] वस्तुतः कालेज या विश्वविद्यालय वह "प्लेटफार्म" होता है , जहां छात्र के सर्वांगीण विकास के

लिए नानाविध प्रश्नों और समस्याओं की चर्चा अपेक्षित है । तभी तो कहा गया है — " No knowledge without college " — अर्थात् कालेज के बिना पूर्ण ज्ञान संभव नहीं है । पर यह तभी संभव है जब उसके प्राध्यापकों में उस प्रकार की तत्परता और तज्ञता हो । वस्तुतः अध्यापक होना एक यात्रा है — एक सात्त्विक यात्रा । प्रत्येक अध्यापक शिक्षक होता है और उसे शिक्षक से "गुरु" तक की यात्रा तय करनी होती है । और शिक्षक से "गुरु" होने के लिए उसे निरंतर अध्ययनशील रहना चाहिए । वस्तुतः जो अध्यापक निरंतर "विद्यार्थी" रहना चाहता है, उसे ही इस क्षेत्र में पदार्पण करना चाहिए, अन्यथा पैसे कमाने के और भी कई रास्ते और क्षेत्र हैं । इस संदर्भ में डा. पारूकान्त देसाई ने "शिक्षा में नैतिक मूल्य" नामक लेख में कहा है उसे उद्धृत करना यहाँ नितांत प्रासंगिक होगा — " एक व्यक्ति शिक्षा देता है, दूसरा उसे ग्रहण करता है । एक गुरु है, दूसरा अन्तेवासी । पर एक तीसरा पक्ष भी है जो बहुत ही प्रबल है । वह पक्ष जो शिक्षण की व्यवस्था करता है । आप उसे व्यवस्था-तंत्र कह सकते हैं । इस तंत्र में मूढ़ से लेकर आला दरजे के शिक्षित और साक्षर लोग हैं । जब जीवन की तरक्की के सारे दरवाजे बन्द दिखते हैं, व्यक्ति विद्यालय में पढ़ाने का काम करने आ जाता है । ध्यान रखिए, उसके जीवन में शिक्षण की धुन नहीं है, तब वह शिक्षण को "घुन" ही लगायेगा । वह ट्युशन खोजेगा, पैसा कमाएगा, प्लोटों को खरीदेगा । हो चुकी पढ़ाई ऐसी दशा में, मिल चुका ज्ञान । विद्यार्थी चला था शिक्षित बनने, पर वह स्तरीय साक्षर भी नहीं बन पाया । कहाँ से आयी यह "उपाधिग्रस्त" (9) अयोग्य अध्यापकों की भीड़ ।" [95] डाक्टरसाहब का यह पुण्यप्रकोप जायज है । आजकल ऐसे-ऐसे लोग इस पवित्र स्थान पर पहुंच जाते हैं कि भगवान ही मालिक है । हमारे एक अध्यापक थे । एक दिन हमारी क्लास में आकर कहने लगे — " चलिये "लोकभारती काव्यधारा निकालिये ।" छात्रों ने कहा कि "सर, वह तो "आप्शनल" के क्लास में है, हम तो एडिशनल वाले हैं । " " ठीक है, फिर गबन निकालिये ।" छात्र बेचारे कहते हैं — " सर वह भी हमारे कोर्स में नहीं

है । " इस पर झल्लाते हुए सर पूछते हैं — " तो फिर क्या है तुम्हारे कोर्स में ? " अभिप्राय कि यहां ऐसे-ऐसे दिग्गज अध्यापक महोदय होते हैं जिनको किसी कक्षा में जाने से पूर्व यह भी ज्ञात नहीं होता कि उनको वहां जाकर क्या पढ़ाना है । ऐसे में डा. कोहली जैसे या डाक्टर साहब जैसे अध्यापक भाग्यशालियों को ही मिलते हैं ।

डा. कोहली कालेज में अध्यापक थे और इस नाते एम.ए. {xxx डिजर्टेशन } , एम.फिल. तथा पी-एच.डी. आदि उपाधियों के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध के मार्गदर्शक भी रहे हैं । शोध-कार्य में मार्ग-दर्शक की जो भूमिका होती है , उसके संदर्भ में डा. कोहली का कहना है —" मैं वट"- वृक्ष बनना नहीं चाहता , जो अपनी घनी छाया के कारण छोटे-छोटे पौधों को कभी प्रकाश के दर्शन नहीं होने देता और अपने सघन फैलाव के कारण सदा उन पर छाया रहता है , तथा उनके विकास को रोकने का भरसक प्रयत्न करता है । मैं अपना प्रिय विषय तुम पर आरोपित करना नहीं करना चाहता और न ही किसीको करना चाहिए । अध्यापक को तो आकाश की तरह होना चाहिए , जो अपने संरक्षण में पलने वाले प्रत्येक प्राणी का उसकी रूचि और गति के अनुसार भरपूर विकास करता है — सीमा रहित विकास ।" 96

उनके कालेज में एक अध्यापक हैं श्री ज्ञानेन्द्र वर्मा । वह प्रायः डा. नरेन्द्र कोहली के बारे में कहते रहते हैं —" डा. नरेन्द्र कोहली उपन्यासकार , व्यंग्यकार , कहानीकार , नाटककार और एक अच्छे अध्यापक हैं ... किन्तु मेरा मन यहीं तक रूकना नहीं चाहता । वे कुछ और भी हैं । उनके संबंध और रिश्ते वहीं समाप्त नहीं होते ... वे पिता भी हैं , मित्र भी हैं , और वे अपने छात्रों और शिष्य-भाव से आये , अन्य लोगों का निरंतर अपेक्षित मार्गदर्शन करने वाले गुरु भी हैं । अपने अधिकारों के प्रति वे पर्याप्त सजग हैं , किन्तु कर्तव्य उनके लिए अधिकारों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं ... जो दायित्व , चाहे वह पारिवारिक हो या सामाजिक , यदि उन्होंने स्वीकार कर लिया अथवा जो दायित्व उन पर आ पड़ा , वह उनका धर्म हो

जाता है ।"[97]

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि डा. नरेन्द्र कोहली एक सफल नाटककार भी हैं । न केवल उन्होंने नाटक लिखे हैं, बल्कि उनके मंचन में भी उनकी सक्रिय भूमिका रहती है । इस संदर्भ में एक प्रसंग उल्लेख्य है । दिनेश कपूर दो बार नाटक के रिहर्सल पर विलंब से आये, इस पर डा. कोहली ने अब उनको उस नाटक से बहिष्कृत कर दिया । दिनेश कपूर की इसको लेकर क्या प्रतिक्रिया है, वह देखिए — "किसीको क्षमा न करने का प्रण शायद उस घटना की एक खिसियानी प्रतिक्रिया रही होगी, किन्तु अपने आत्मीय मित्रों के मध्य भी मैं कभी डा. कोहली को कोस नहीं पाया था । लगा कि ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका व्यक्तित्व बेहद-बेहद ईमानदार, निष्कपट और सीधा हो । जिसका जीवन के प्रति स्पष्ट और दृढ़ दृष्टिकोण हो, और जिसमें सच्चाई कूट-कूट कर भरी हो । वह अपने साथ या अपने पुत्र के साथ या अपनी पत्नी के साथ भी वैसा ही व्यवहार करेगा, जैसा उसने मेरे साथ किया था । ... और यह भी उन्हीं के आत्मकथात्मक लेखों से मुझे बाद में पता चला कि जिन्हें मैं औरों जैसा जिन्न समझता रहा । वे जिन्न नहीं बल्कि एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि अपने श्रम से, बिना बेईमानीपूर्ण समझौते किए, व्यक्ति सुविधा और सम्मान का जीवन जी सकता था । ... "दीक्षा" और उसके बाद की पुस्तकों में उनके अध्यात्म और चिंतन ने तो उन्हें निरे संत की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है ।"[98]

हमारे यहां लोगों की, विशेषतः लेखकों, कवियों, कलाकारों की प्रशस्तियों में अतिशयोक्ति करना एक साधारण-सी बात है । "अतिशयोक्ति" शायद हमारा प्रिय अलंकार है । और उसमें भी व्यक्ति यदि अपने सम्मुख हो, तब तो लोग हद ही कर डालते हैं । लोग प्रसाद, निराला, प्रेमचंद के साथ तुलना करने बैठ जाते हैं । डा. कोहली के संदर्भ में जहां भी कुछ ऐसा अतिशयोक्तिपूर्ण कहा गया, वे तुरंत उसका खंडन करने में जुट जाते हैं । इस संदर्भ में उनका कथन है —" असत्य

बोलना और मौन रहकर असत्य को स्वीकार करना , दोनों समान स्थितियां हैं । जिस सम्मान के योग्य आप नहीं हैं , यदि उस सम्मान को आप ग्रहण कर रहे हैं , तो आप असत्य भाषण ही कर रहे होते हैं , क्योंकि आप जानते हैं कि आप वह नहीं हैं , जो आपको बताया जा रहा है । मैं असत्य के साथ संधि करने का अपराधी नहीं होना चाहता ... और सही तो यही है कि मैं उस असत्य के बोझ को ढोना नहीं चाहता । ऐसी छोटी-छोटी बातों से ही जीवन अस्वच्छ होता हुआ अंत में इतना मलिन हो जाता है , कि उसमें सुधार बहुत कठिन हो जाता है ।' [99]

जब उनका कोई विद्यार्थी या अन्य कोई घनिष्ठ व्यक्ति उनके लिए किए गए कार्य पर पारिश्रमिक लेने से इन्कार करता है और कहता है कि गुरु से सेवाओं का मूल्य नहीं लिया जाता , तब डा. कोहली अपनी बात को तर्कसंगत ठहराते हुए कहते हैं —' मैं तुम्हें पारिश्रमिक न दूं तो यह तुम्हारा शोषण होगा । मैं न तो शोषण करने के पक्ष में हूं और न करवाने के । तुम्हें भी यही परामर्श दूंगा कि कभी अपना शोषण मत होने देना । भावनात्मक शोषण भी नहीं । क्यों ? बिना पारि-श्रमिक के कार्य करवाना शोषण ही तो है । मैं उन अध्यापकों में से नहीं हूं , जो अपने विद्यार्थियों से अनुचित लाभ उठाते हैं ।' [100]

डा. कोहली की ईमानदारी को एक और मिसाल देते हुए ईशान महेश कहते है --' मैं काफी समय से देखता आ रहा था कि डा. कोहली उन लिफाफों को भी निर्द्वन्द्व भाव से फाड़ते जाते हैं , जिन पर लगीं डाक-टिकटें मुहर न लगने के कारण पुनः उपयोग में लाई जा सकती हैं । मैंने उनका इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि इन टिकटों पर डाक-विभाग की मुहर नहीं है । तब वे सहज भाव से कहते हैं कि मुझे ज्ञात है कि इनका उपयोग एक बार हो चुका है । जिन पत्रों को गंतव्य तक पहुंचाने का भार टिकटों पर था , उनका वहन ये कर

चुकी हैं । इनका पुनः उपयोग चोरी है । देखो , हमें दूसरों को दिखाना मात्र नहीं है कि हम स्वच्छ जीवन जीते हैं , हमें वस्तुतः स्वच्छ जीवन जीना है । टिकट पर मुहरम नहीं लगी , अतः डाक-विभाग हमारी चोरी नहीं पकड़ पाता , किन्तु हम तो जानते हैं न कि हम चोर हैं । यदि हम अधर्म उसी सीमा तक करें , जहाँ तक हम पकड़े नहीं जाते , तो हम निरंतर अपराध , अधर्म और पाप करते चलेंगे ।" 101

डा. कोहली के व्यक्तित्व से सम्बद्ध इस चर्चा में हम उनके व्यक्तित्व के कई पहलुओं पर विचार कर चुके हैं । डा. कोहली एक लेखक हैं । उपन्यासकार , कहानीकार , व्यंग्यकार और नाटककार हैं । अतः उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष पर कुछेक विद्वानों के विचार जान लेना अप्रासंगिक न होगा । डा. महेशदत्त शर्मा उनके एक आलोचकों में से हैं । वे डा. कोहली के संदर्भ में लिखते हैं —" डा. नरेन्द्र कोहली मूलतः व्यंग्यकार हैं । व्यंग्य से उनकी लेखन-गति नाटकों की ओर मुड़ी । नाटकों से होती हुई , वह उपन्यास पर केन्द्रित हो गई । उनके आरं-भिक उपन्यास समकालीन समाज की विसंगतियों पर प्रहार करते दिखाई देते हैं । किन्तु बाद के समय में , डा. नरेन्द्र कोहली के औपन्यासिक साहित्य की गति उर्ध्वगामी हो गई है , अर्थात् आध्यात्मिक । उनका लेखन सांसारिकता और ईश्वरीय ऐश्वर्य को समानांतर लेकर चलने लगा । चूंकि भारतीय संस्कृति का मूलाधार उनके पौराणिक ग्रन्थ हैं । अतः उनको आधार बनाकर , उनमें निहित त्रिगुणात्मक , त्रिकाल सत्य को , ह उन्होंने अपने आधुनिक संदर्भ में लिखे गए , पौराणिक उपन्यासों में मौलिक अभिव्यक्ति के साथ प्रकट किया है ।" 102

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के एक सुप्रसिद्ध आलोचक डा. विवेकी-राय हैं । उन्होंने डा. कोहली को "अप्रतिम कथा-यात्री" कहा है । उन्होंने उनकी इस यात्रा को जनवाद से अध्यात्मवाद की ओर संक्रमित होते हुए बताया है । डा. राय के अनुसार" नये बदलते समाज की नयी चेतना और नयी संवेदना तथा नयी सोच को ताजी ऊर्जा के साथ मौलिक शिल्प में प्रस्तुत करने वाले , कथाकार नरेन्द्र कोहली के पास निर्विवाद रूप से

कहने के लिए अपनी बात है । यहां तक कि वे वाल्मीकि और व्यास की बातों को उठाते हैं तो उसे प्रस्तुत करने में अपनी बात बना देते हैं और अविरोध , अनवरोध कह डालते हैं । अपने इसी नवाग्रही व्यक्तित्व के चलते ही वे अत्यन्त जागरूकता के साथ जहां भी अवसर मिलता है , नये-पन को अन्वेषित करते रहते हैं । रामकथा के माध्यम से पौराणिक मूल्यों की आधुनिक व्याख्या करके नरेन्द्र कोहली ने एक विचार-क्रान्ति का सूत्रपात किया है । भारतीय वाङ्मय में महाभारत को पंचम वेद की उपाधि मिली हुई है । इसके विशाल सागर में सचमुच ही वह सब है , जो भारत में है । इसे पूरी तरह आत्मसात कर कथाकार नरेन्द्र कोहली ने आधुनिक उपन्यास शिल्प में ढाला है । यही कारण है कि नये विज्ञान-युग के बुद्धिजीवियों और प्रबुद्ध लोगों में इस महाभारत कथा की उपन्यास-श्रृंखला का बहुत आदर हुआ है ।" [103]

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डा. विजयेन्द्र स्नातक डा. कोहली के संदर्भ में लिखते हैं —" डा. नरेन्द्र कोहली हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । विगत तीस-पैंतीस वर्षों में , उन्होंने जो कुछ लिखा है वह नया होने के साथ मिथकीय दृष्टि से नयी जमीन तोड़ने जैसा है । रामायण और महाभारत की पुरा-कथा को आधुनिक भाव-बोध के साथ जोड़कर , डा. कोहली ने जो लिखा है वह मात्र उपन्यास न होकर वर्तमान समाज को पुरातन के परिदृश्य में देखने जैसा है । स्वामी विवेकानंद के जीवन और कृतित्व पर आधृत , उनका बृहद् उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में भी , इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है । मानवीय संवेदना का पारखी नरेन्द्र कोहली वर्तमान युग का प्रतिभाशाली वरिष्ठ साहित्यकार हैं ।" [104]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि डा. नरेन्द्र कोहली हिन्दी के एक वरिष्ठ प्रतिभाशाली उपन्यासकार-कथाकार तो हैं ही ,एक अच्छे इन्सान भी हैं । एक ईमानदार अध्यापक और लेखक और साथ ही एक बेहद संवेदनशील तथा दायित्वपूर्ण पुत्र , पति और पिता । एक अच्छे मालिक भी ।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन के उपरान्त विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा हम निम्नलिखित निष्कर्ष तक सहजतया पहुंच सकते हैं —

§1§ लेखक के कृतित्व को उसकी समग्रता में समझने के लिए उसके जीवन और व्यक्तित्व को समझ लेना आवश्यक होता है ।

§2§ डा. नरेन्द्र कोहली का जन्म 6 जनवरी , सन् 1940 ई. में सियालकोट में हुआ था , जो अब पाकिस्तान में है ।

§3§ लेखक का प्रारंभिक जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण स्थितियों से गुजरा है । छोटी उम्र में ही निर्वासित होने की नियति को इन्हें झेलना पड़ा । भारत-पाकिस्तान विभाजन के बाद उनका परिवार जमशेदपुर आ गया ।

§4§ लेखक की प्रारंभिक शिक्षा , माध्यमिक शिक्षा और कालेज की बी.ए. तक की शिक्षा जमशेदपुर में ही संपन्न हुई । शैशव-काल से ही लेखक पढ़ने में बहुत तेज़ थे और अपनी कक्षा में प्रायः अव्वल ही आते थे । यह समय आर्थिक-पारिवारिक दृष्टि से कड़े संघर्ष का समय था । लेखक को भी कई बार पटरी पर दुकान लगानी पड़ती थी और अपने पिता के व्यवसाय में सहयोग देना पड़ता था । पढ़ने में , वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में तथा लेखन में अग्रिम पंक्ति में रहने के कारण अपनी माली हालत के ठीक न होने पर भी और "आउट-हाउस" में रहने के बावजूद उनमें कभी लघुत्व-ग्रन्थि का निर्माण नहीं हुआ ।

§5§ सन् 1940 से सन् 1960 तक के समय को लेखक के विकास की कुछ दृष्टि से हम निर्माण-काल कह सकते हैं ।

§6§ लेखक की प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा उर्दू माध्यम से हुई । लेखक जब छठी कक्षा में थे तब उनको कुछ साहित्यिक रूचि के मित्र मिल गये थे , फलतः उनकी दो कविताएं कक्षा की हस्त-

लिखित पत्रिका में प्रकाशित हुई थी । सातवीं कक्षा में कुछ कहानियां कक्षा के ही एक मित्र की हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित हुईं । आठवीं कक्षा में पटरी पर फल बेचते हुए घटित एक घटना पर आधारित कहानी -- " हिन्दोस्तां लगता निशां " -- उर्दू में लिखी , जो स्कूल की मुद्रित पत्रिका में प्रकाशित हुई । मुद्रित पत्रिका में लेखक की यह प्रथम रचना थी ।

§7§ लेखक जब माध्यमिक कक्षाओं में पढ़ रहे थे तब उनकी बहन कालेज में पहुंच चुकी थी और हिन्दी साहित्य पढ़ रही थी , फलतः लेखक का ध्यान भी हिन्दी साहित्य की ओर गया और उन दिनों में छायावादी कवियों से प्रेरित होकर उनकी ही शब्दावली में लेखक ने ढेर सारी प्रेम-कविताएं लिख डाली थीं । इस प्रकार मैट्रिक तक आते-आते लेखक प्रायः अपना भावी मार्ग तय कर चुके थे ।

§8§ सन् 1957 में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा विज्ञान के विषयों से उर्दू माध्यम में 76 प्रतिशत अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण की । जमशेदपुर एक औद्योगिक नगर होने के कारण वहां के अधिकांश अभिभावक अपने बच्चों को इंजीनियरिंग पढ़ाना चाहते हैं और लेखक के अच्छे प्रतिशत थे । चाहते तो इंजीनियरिंग या विज्ञान में जा सकते थे पर लेखक ने तय कर लिया था कि वे कला में ही जायेंगे । अतः 1957 के जुलाई महीने में उन्होंने जमशेदपुर के को-आपरेटिव कालेज में आई.ए. में प्रवेश लिया । लेखक की यहां तक की पढ़ाई उर्दू में हुई । उन दिनों में जमशेदपुर में "मुख्य हिन्दी" या "मुख्य उर्दू" के लिए अंग्रेजी शब्द "क्लासिक्स" प्रयुक्त होता था । लेखक ने अपने प्रवेश-फार्म में "क्लासिक्स" लिखा और हिन्दू लड़के का "क्लासिक्स " हिन्दी ही होगा , ऐसा समझकर उनको हिन्दी की कक्षा में भेज दिया गया ।

§9§ कालेज में उनके मुख्य विषय थे -- हिन्दी , मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र । घरवाले और अध्यापक चाहते थे कि वे इंजीनियरिंग या विज्ञान में जाएं , लेकिन लेखक अपने निर्णय पर अडिग रहे और

टस से मस न हुए ।

§10§ काव्य के तीन हेतु बताए गए हैं -- प्रतिभा , व्युत्पत्ति और अभ्यास । उनमें जन्मजात प्रतिभा थी इसके कई प्रमाण हमें उनके शैशव-काल में ही मिल गए थे । "अभ्यास" अर्थात् परिश्रम -- विद्याकीय परिश्रम -- करने का माद्दा भी उनमें बचपन से ही मिलता है । "व्युत्पत्ति" आती है -- " लोक शास्त्र काव्याद्य वेक्षणात् " । उसमें वे लगे थे । हिन्दी साहित्य और अंग्रेजी साहित्य की महत्वपूर्ण पुस्तकें वे निरंतर पढ़ते हुए अपनी प्रतिभा को विकसित कर रहे थे । कालेज जाने से पूर्व छुट्टियों में उन्होंने उर्दू में संक्षिप्त रामायण तथा महाभारत को भी पढ़ लिया था ।

§11§ कालेज में उनको अपनी लेखकीय प्रतिभा को विकसित करने के और भी कई अवसर प्राप्त हुए । "लेखक मंडल" और "हिन्दी साहित्य परिषद " जैसी संस्थाओंने उनके लेखन को प्रोत्साहित किया ।

§12§ सन् 1960 में "कहानी" पत्रिका में उनकी "दो हाथ" नामक कहानी प्रकाशित हुई । लेखक इसे अपनी पहली प्रकाशित रचना मानते हैं । अतः डा॰ कोहली का लेखन-काल सन् 1960 से प्रारंभ हुआ ऐसा हम कह सकते हैं ।

§13§ बी॰ए॰ आनर्स की पढ़ाई जमशेदपुर में पूरी करके लेखक आगे की पढ़ाई के लिए दिल्ली आ गये और दिल्ली के रामजस कालेज में दाखिला ले लिया । इसे लेखक के जीवन का दूसरा मोड़ कह सकते हैं । पहला मोड़ वह है जहां वे जमशेदपुर कालेज में अपने साहित्यिक संस्कारों का मांजने का काम कर रहे थे । ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपना रास्ता बहुत पहले ही तय कर लिया था । इस बीच में उनके परिवार की आर्थिक स्थिति भी कुछ-कुछ ठीक होने लगी थी ।

§14§ दिल्ली आकर शीघ्र ही उन्होंने अपना स्थान जमा लिया । एम॰ए॰ लेखक अपनी कक्षा में द्वितीय स्थान पर रहे । श्रेणी तो प्रथम ही थी । उनका अकादमिक रेकोर्ड हमेशा प्रथम श्रेणी का

रहा है, अतः एम.ए. के उपरान्त उनको एक सांध्य कालेज में लेक्चररशीप मिल गई। बाद में वे मोतीलाल नेहरू कालेज में आ गये।

§15§ एक असफल प्रेम के बाद मधुरिमाजी से उनका परिचय हुआ। परिचय प्रणय और अन्ततः परिणय में बदल गया और 9 अक्तूबर सन् 1965 में उनका मधुरिमाजी से विवाह हुआ। मधुरिमाजी कमला नेहरू कालेज में लेक्चरर हैं। प्रारंभिक जीवन संतान-मृत्यु के कारण कुछ दुःखपूर्ण और संघर्षपूर्ण रहा। "साथ सहा गया दुख" तथा अस्पताल जीवन से सम्बद्ध कुछ व्यंग्य उन दिनों का सृजन है। कार्तिकेय और अगस्त्य ये दो उनके पुत्र हैं।

§16§ साहित्यिक जिन्दगी का प्रारंभ उनके जीवन का तीसरा महत्वपूर्ण मोड़ है। कोहलीजी बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न लेखक है और उन्होंने उपन्यास, कहानी, व्यंग्य, नाटक आदि विविध विधाओं पुष्कल परिमाण में साहित्य-सृजन किया है। उनके लेखकीय जीवन का प्रारंभ एक व्यंग्यकार के रूप में हुआ। उधर से वे उपन्यास और और नाटक की ओर मुड़े। "हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धान्त" विषय पर शोध-कार्य करने के उपरान्त पूरी तरह से सृजनxxxx रचनात्मक साहित्य के सृजन में लगे रहे।

§17§ रामकथा पर आधारित "दीक्षा" उपन्यास का सृजन और फिर उसी क्रम में रामकथा पर आधृत "अवसर", "संघर्ष की ओर" और "युद्ध" उपन्यासों की माला का सृजन करना उनके जीवन का चौथा मोड़ है। इससे वे धीरे-धीरे जनवाद से अध्यात्मवाद की ओर आते गये हैं। रामायण के उपरान्त उन्होंने महाभारत पर आठ उपन्यासों की रचना की। कृष्ण और सुदामा की मैत्री को लेकर "अभिज्ञान" लिखा। स्वामी विवेxxx× विवेकानंद के जीवन को आधार बनाकर "तोड़ो, कारा तोड़ो" की रचना की। इस

तरह एक पौराणिक उपन्यासकार के रूप में हिन्दी साहित्य में वे अपना विशिष्ट स्थान बना चुके हैं ।

§18§ इस प्रकार लगभग छियालीस साल उनके लेखकीय जीवन के हो चुके हैं और सम्प्रति ××× भी लेखन-साधना-रत ही हैं । पृष्ठ संख्या 104 पर उनकी समग्र ××××× कृतियों की सूची दी गई है ।

§19§ यदि डा० कोहली के व्यक्तित्व पर एक विहंगम दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि वे हिन्दी के एक लब्धप्रतिष्ठ कथाकार, ईमानदार लेखक और अध्यापक, निष्ठापूर्ण व दायित्वपूर्ण पुत्र, पति और पिता हैं । इन सबके ऊपर एक अच्छे इन्सान हैं जो क्रमशः "संतत्व" की ओर जा रहे हैं ।

====== xxxxxxx =========

: सन्दर्भानुक्रम :

§1§ "×प्रिह×× द्रष्टव्य : " हिन्दी उपन्यास की विकास परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास " : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 276 ।

§2§ " गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम " : सं. डा. चन्द्रकान्त बांदिवड़ेकर : भूमिका : पृ. 6 ।

§3§ लेखक और संवेदना : शैलेश मटियानी : पृ. 47 ।

§4§ सी : टाइम्स आफ इण्डिया : 10-6-96 : पृ. 3 ।

§5§ " प्रेमचन्द के जीवन-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में उनके कथा-साहित्य का अनुशीलन : शोध-प्रबंध : डा. लीना चौहाण : पृ. 25 ।

§6§ नवभारत टाइम्स : 10-7- 92 : पृ. 4 ।

§7§ द्रष्टव्य : मुंशीजी का एक व्यंग्यात्मक वाक्य जो उनकी कहानी "नमक का दारोगा " में आया है ।

§8§ डा. नरेन्द्र कोहली के जीवन से सम्बद्ध यह समग्र विवरण उनका खुद का दिया हुआ है । द्रष्टव्य : बकलम खुद : डा. नरेन्द्र कोहली: : नरेन्द्र कोहली ने कहा : पृ. 9 ।

§9§ वही : पृ. 9-10 ।

§10§ वही : पृ. 10 ।

§11§ वही : पृ. 10-11 ।

§12§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 11 ।

§13§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 11 ।

§14§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 11-12 ।

§15§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 12 ।

§16§ वही : पृ. 12 ।

§17§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 12-13 ।

§18§ वही : पृ. 13 ।

§19§ वही : पृ. 13-14 ।

§20§ वही : पृ. 14 ।

{21} "पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन " : सं. डा. हितेन्द्र यादव : पृ. 10 ।

{22} वही : पृ. 10 ।

{23} द्रष्टव्य : नरेन्द्र कोहली ने कहा : पृ. 15 ।

{24} वही : पृ. 15 ।

{25} द्रष्टव्य : वही : पृ. 16 ।

{26} वही : पृ. 16 ।

{27} वही : पृ. 16-17 ।

{28} वही : पृ. 19 ।

{29} अभ्युदय : नरेन्द्र कोहली : लेखक परिचय से ।

{30} नरेन्द्र कोहली ने कहा : पृ. 16 ।

{31} वही : पृ. 17 ।

{32} वही : पृ. 17 ।

{33} से {36} : वही : पृ. क्रमशः 17, 18, 18 , 23 ।

{37} द्रष्टव्य : वही : पृ. 13 ।

{38} द्रष्टव्य : वही : पृ. 16 ।

{39} "पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन : पृ. 11 ।

{40} द्रष्टव्य : अभ्युदय : फ्लेप से ।

{41} नरेन्द्र कोहली ने कहा : पृ. 19-20 ।

{42} द्रष्टव्य : वही : पृ. 22-23 ।

{43} से {44} : वही : पृ. क्रमशः 22-23, 32 ।

{45} प्रकर : अक्तूबर : 1984 : पृ. 20-21 ।

{46} निर्माण : तोड़ो , कारा तोड़ो : पृ. 376 ।

{47} सुश्री कविता सुरभि : " पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन : पृ. 94 ।

{48} और {49} : वही : पृ. क्रमशः 94 , 94 ।

{50} निर्माण : तोड़ो , कारा तोड़ो : पृ. 101 ।

{51} साधना : तोड़ो , कारा तोड़ो : पृ. 401 ।

§52§ साधना : तोड़ो , कारा तोड़ो : पृ. 196 ।

§53§ से §56§ : वही : पृ. क्रमशः 198, 198, 198, 202 ।

§57§ वही : पृ. 200, 203, 204 तथा 259 ।

§58§ " नरेन्द्र कोहली : अप्रतिम कथा-यात्री " : डा. विवेकीराय : पृ. 17 ।

§59§ शब्दों का जीवन : डा. भोलानाथ तिवारी : पृ. 11-12 ।

§60§ डा. विवेकीराय : "नरेन्द्र कोहली : अप्रतिम कथा-यात्री " : पृ. 19 ।

§61§ आश्रितों का विद्रोह : नरेन्द्र कोहली : पृ० c67, 74, 85, 114, 126, 130, 136, 147, 157 ।

§62§ और §63§ : वही : पृ. क्रमशः 13, 96 ।

§64§ वही : पृ, क्रमशः 13 , 72 ।

§65§ डा. विवेकीराय : " नरेन्द्र कोहली : अप्रतिम कथा-सात्री " : पृ. 21 ।

§66§ मानसमाला : डा. पारुकान्त देसाई ऽ पृ. 25 ।

§67§ राग दरबारी : श्रीलाल शुक्ल : पृ. 191 ।

§68§ वही : पृ. 144 ।

§69§ "नरेन्द्र कोहली : अप्रतिम कथा-यात्री : " पृ. 22 ।

§70§ वही : पृ. 22 ।

§71§ नरेन्द्र कोहली ने कहा : पृ० 32 ।

§72§ आत्मदान : नरेन्द्र कोहली : पृ. 12 ।

§73§ और §74§ : वही : पृश. क्रमशः 116, 118 ।

§75§ "लेखक का व्यक्तित्व और कृतित्व : एक समालोचनात्मक दृष्टि " पृ. 7 ।

§76§ नरेन्द्र कोहली ने कहा : पृ. 47-48 ।

§77§ "पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन " : पृ. 18 ।

§78§ से §80§ : वही : पृ. क्रमशः 18, 18-19, 19 ।

§81§ द्रष्टव्य : नरेन्द्र कोहली ने कहा : पुस्तक का समर्पण ।

§82§ से §86§ : सृजन-साधना : पृ. क्रमशः 123, 123, 123, 24 , 08 ।

§87§ "पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन " : सं. डा. हितेन्द्र
यादव : पृ. 14 ।

§88§ मानसमाला : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 19 ।

§89§ से §92 § : सृजन-साधना : पृ. क्रमशः 11, 19, 22-23, 23 ।

§93§ "पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन : पृ. 15 ।

§94§ सृजन-साधना : पृ. 25-26 ।

§95§ चिंतनिका : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 69 ।

§96§ "पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन " : पृष्ठ 16 ।

§97§ से §102 § : वही : पृ. क्रमशः 16, 17, 17 , 17-18, 18 , 21 ।

§103§ "नरेन्द्र कोहली : अप्रतिम कथा-यात्री " : डा. विवेकीराय :
: पुस्तक के प्रथम फ्लेप से ।

§104§ "पौराणिक उपन्यास : समीक्षात्मक अध्ययन : " पृ. 20 ।

====== XXXXXX ==========